प्रामाण्य कारणसापेक्ष होता है। स्वप्नादिज्ञानों के प्रामाण्य का कोई कारण नहीं है, अतः अनपेक्षित स्वाभाविक अप्रामाण्य ही स्थिर रहता है।

प्रश्न होता है कि प्रामाण्य का क्या कारण है, जिसके अभाव से स्वप्नादि ज्ञानों का प्रामाण्य नहीं होता। परन्तु इसका समाधान यह है कि ज्ञान के कारण इन्द्रिय आदि में रहनेवाले सन्निकर्ष आदि गुण ही प्रामाण्य का उपजनन करते हैं। स्वप्नादि ज्ञानों में इन्द्रियसन्निकर्ष आदि गुण नहीं हैं, अतः उनका प्रामाण्य नहीं उत्पन्न हुआ।

यह गुणाभाव भी दो प्रकार का होता है। कहीं इन्द्रिय आदि के रहने पर भी उसके दोषों से गुणों का अपसारण होता है। जैसे शुक्ति में, रजत आदि भ्रमात्मक ज्ञान के स्थल पर इन्द्रियादि हैं भी; तो भी शुक्तिगत चाकचिक्यादि दोषों से इन्द्रिय-सम्बन्ध नहीं होने पाता। कहीं पर ज्ञान-साधन इन्द्रिय लिङ्गादि गुणों के आश्रय न रहने से गुणाभाव रहता है। जैसे, स्वप्नादि ज्ञान में; वहाँ सन्निकर्ष आदि गुणों के आश्रय इन्द्रिय आदि ही नहीं हैं।

शङ्का हो सकती है कि 'यदि अप्रामाण्य दोष के कारण नहीं होता, तो दोषों का ज्ञान होने पर अप्रामाण्य का बोध कैसे होता है?' पर इसका समाधान यही है कि दोषों के द्वारा गुणों का निराकरण हो जाता है, अतः प्रामाण्य के कारण गुणों के न होने से प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः अनवोदित अप्रामाण्य ही शुक्ति-रजत, स्वप्न आदि ज्ञानों में स्थिर रहता है।

इस प्रकार अप्रामाण्य-स्थिति का कारण अपवाद का अभाव है। अपवाद के अभाव का कारण गुणाभाव है। निष्कर्ष यह कि गुणाभाव ही अप्रामाण्य का कारण है, दोष तो अन्यथा-

सिद्ध हैं। उन अन्यथासिद्ध दोषों में ही मीमांसकों को अप्रामाण्य की कारणता का भ्रम होता है।

वस्तुतः ज्ञानों का अप्रामाण्य औत्सर्गिक ही होता है। इसके अतिरिक्त अप्रामाण्य-सामान्य के साथ दोषों का अन्वय-व्यतिरेक भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अज्ञान-लक्षण अप्रामाण्य में कोई दोष नहीं है। जैसे, अनर्थक शब्दों से ज्ञान न होना ही उनकी अप्रामाणिकता है। वहाँ कोई दोष कारण कहा जाय, सो भी नहीं। असल में, पहले से व्यवहार में न उतरने के कारण उन शब्दों से अर्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस बौद्धमत के अनुसार स्वप्नादि ज्ञानों के तुल्य वेद से उत्पन्न ज्ञानों में भी अप्रामाणिकता स्वाभाविक ही है। प्रामाण्य के उत्पन्न होने का कोई कारण है नहीं, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, अतः वहाँ कारण-भूत वक्ता के गुण की सम्भावना ही नहीं है। साथ ही वेद ऐसे अर्थों का बोधक है, जिसका प्रमाणान्तर से संवाद भी नहीं हो सकता। वेद अविद्यमान एवं अदृष्ट भव्य अर्थ का बोधक है, अतः अर्थक्रिया का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। इससे स्पष्ट है कि प्रामाण्य-कारण न मिलने से स्वाभाविक अप्रामाणिकता अनवोदित ही रहती है। यदि पौरुषेय हों, तो भी भ्रम, प्रमाद आदि से दूषित होने से वेद अप्रमाण ही रहेंगे।

मीमांसकों ने बौद्धों के उक्त मत का पूर्ण रूप से खण्डन करके सिद्ध किया है कि विज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है—

> "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
> नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥"

आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु॥"

—श्लोकवार्त्तिक।

यदि ज्ञान में अपने विषय की यथार्थता निर्धारण करने की स्वतः शक्ति न होगी, तो वह दूसरे से कैसे उत्पन्न होगी। फिर तो कभी भी अर्थ-निर्धारण ही न होने से जगत् की अन्धता ही प्रसक्त होगी। अतः समस्त प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः है, क्योंकि यदि उनमें अपने विषय की सत्यता के निश्चय कराने की शक्ति न हो, तो वह शक्ति और कहाँ से आ सकती है? फिर तो किसी को किसी अर्थ का निर्णय ही न होगा। यदि कहा जाय कि 'प्रमाणों के गुणनिश्चय से प्रामाण्य निश्चित होगा', तो प्रश्न उठेगा, कि वे गुण कौन हैं? यदि विशुद्धि या निर्मलता को गुण माना जाय, तो फिर यह मलरूप दोष का अभाव ही हुआ। निर्मलता कोई गुण नहीं है। यदि इस दोषाभाव को ही गुण मान लिया जाय, तब भी यह दोषाभावरूप गुण अपौरुषेय वेद में मिलता ही है।

अतः यदि प्रामाण्य को गुणाधीन भी मानें, तो कोई क्षति नहीं है; क्योंकि जब वेद किसीसे उत्पन्न नहीं है, तो पुरुषाश्रित दोषों का अभाव स्वाभाविक ही है। अतः उन की स्वतः-प्रमाणता में कोई क्षति नहीं है।

विवेचन करने पर गुण से प्रामाण्य की सिद्धि दुर्घट है, क्योंकि यदि विज्ञान की यथार्थविषयता (सम्बन्ध आदि) गुण के अधीन हैं, तो प्रामाण्य-कारणभूत गुणों की अवगति से घटादि विषयों की यथार्थता ज्ञात होगी। फिर तो गुणज्ञान के प्रामाण्य में भी वही विपत्ति उठ सकती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि विषय की यथार्थता या अर्थतथात्व ही ज्ञान का प्रामाण्य है।

यदि प्रामाण्य का निर्णय गुणों के अधीन माना जाय, तब तो दोष-युक्त चक्षुओं से, 'पीतः शङ्खः' ऐसे ज्ञान में कोई भी सत्य अंश नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। वहाँ भी शङ्खादिक सत्य अंश है, अतः स्वकारणनिमित्त ही ज्ञान में यथार्थता है। अप्रमाणता दोष से होती है, वह दूसरी वस्तु है। 'पीतः शङ्खः' ऐसे ज्ञानों में शङ्खज्ञान स्वकारण इन्द्रिय से जन्य है, अतः वह अंश सत्य है, और पीतता का ज्ञान पित्तरूप दोष से हुआ, अतः वह अंश मिथ्या है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि गुणरूप कारण से उत्पन्न होनेवाली प्रमा (यथार्थ ज्ञान) होती है, तो भी स्वतःप्रमाण ही कहना युक्त है। अर्थात् अपने विषय का निश्चय कराने में वह यथार्थज्ञान किसी अन्य गुणादि की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि हर एक पदार्थ को अपनी उत्पत्ति में दण्ड, चक्र, कुलालादि कारणों की अपेक्षा होती है, पर जलानयनादि में उन की अपेक्षा नहीं होती। वैसे ही ज्ञान भी भले ही उत्पत्ति में गुण और इन्द्रियादि की अपेक्षा करे, परन्तु उत्पन्न होने के बाद अपने विषय की सत्यता का निश्चय कराने में उसे किसी हेतु की अपेक्षा नहीं है। विषयसत्यता के निश्चय को ही यथार्थता या प्रमाणता कहते हैं। अब उसमें किसी कारण की अपेक्षा नहीं है, अतः स्वतःप्रमाणता निश्चित हो गयी।

परतःप्रामाण्य-पक्ष सम्मत नहीं है, इसलिये स्वतः-प्रामाण्य मानना अनिवार्य है, क्योंकि यदि ज्ञान उत्पन्न होकर भी, अपने विषय की यथार्थता के निश्चय के लिए स्वकारण इन्द्रियादिकों के गुणनिश्चय की अपेक्षा करेगा तब तो फिर गुणनिश्चय के लिए निश्चायक प्रमाणान्तर की भी अपेक्षा होगी। कारण यह कि जब वह गुण स्वयं ही प्रमाण से निश्चित नहीं है, तब वह

ज्ञान की यथार्थता (प्रामाण्य) का साधन कैसे होगा? अतः गुण के निश्चय के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता होगी। फिर गुणनिश्चायक प्रमाण को भी अपने प्रामाण्य के लिए वैसे ही गुण और तत्साधन प्रमाणान्तर की अपेक्षा अनिवार्य होगी। इस भाँति सहस्रों जन्मों में भी कोई अर्थ निश्चित न होगा, अतः प्रामाण्य का उच्छेद ही हो जायगा। इसलिए यदि प्रामाण्य मानना है, तो स्वतःप्रामाण्य ही मानना युक्त है।

इस पर कहा जा सकता है कि 'प्रामाण्य के स्वतस्त्व मानने में भी—उसी प्रकार अनवस्था है, क्योंकि प्रामाण्य (विषय-सत्यत्व का निश्चय) तभी हो सकेगा, जब प्रामाण्य के बाधक दोषों का अभाव ज्ञात हो, और दोषाभाव निश्चय में प्रमाणता तभी होगी, जब उसके भी बाधक दोषों का अभाव निश्चित हो। उस अभावनिश्चय की भी प्रमाणता उसी तरह दोषाभाव निश्चय के अधीन है। इसलिए जैसे प्रमाणता के परतः होने के कारण गुणों की निश्चयपरम्परा में अनवस्था थी, वैसे ही प्रमाणता के स्वतः होने पर भी दोषाभाव के निश्चयों की अनन्त परम्परा होगी।'

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणता के स्वतः होने में तभी अनवस्था हो सकती है, जब प्रमाणता-निश्चय में दोषाभाव-निश्चय की अपेक्षा होती। यहाँ तो दोष का निश्चय ही प्रमाणता के निश्चय का बाधक है। दोषों के ज्ञान से ही प्रमाणता का बाध और अप्रमाणता की सिद्धि होती है। जब तक दोष का ज्ञान नहीं होता, तब तक अप्रमाणता ज्ञान का स्पर्श ही नहीं कर सकती। अतः प्रमाणता स्वाभाविक ही है। इस भाँति स्वतः-प्रामाण्य-पक्ष में अनवस्था को अवकाश ही नहीं है।

अग्नि में उष्णता तथा जल में शीतलता स्वाभाविक है,

इसी भाँति ज्ञान की प्रमाणता ज्ञान का स्वभाव (धर्म) ही है। जैसे अग्नि की स्वभावभूत उष्णता भी मणि, मन्त्र, औषध आदि से बाधित हो जाती है, वैसे ही सर्वज्ञानादि की स्वभावसिद्ध प्रमाणता भी दोष-ज्ञान से बाधित हो जाती है। 'नायं सर्पः किन्तु रज्जुरियम्' इस बाधक ज्ञान से भी सर्पज्ञान की भ्रमात्मकता स्पष्ट हो जाती है। अप्रमाणता की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—एक दोषज्ञान से, दूसरे विषयबाध से। इसलिए ज्ञान की अप्रमाणता परतः और प्रमाणता स्वतः मानना युक्त है।

बौद्ध मत की ओर से यह कहा जाता है, कि अप्रामाण्य परतः नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभावरूप होने से कोई वस्तु ही नहीं है। अतः अवस्तुभूत अप्रमाण में दोषजन्यता भी नहीं बन सकती। इसलिए अप्रमाणता दोषजन्य न होने से परतः नहीं कही जा सकती।

यह भी ठीक नहीं, क्योंकि संशय और विपर्यय की अप्रमाणता वस्तुरूप ही है। संशय में विरुद्ध विषयों का सम्बन्धरूप अप्रमाणता है, और विपर्यय में असत्य पदार्थ का सम्बन्धरूप अप्रमाणता है। इन में दोषजन्यता माननी ही पड़ती है और ये दोनों अप्रमाणता भी ज्ञान की बाधिका हैं।

यहाँ जो यह शङ्का की जाती है कि जैसे प्रामाण्य के परतस्त्व मानने में अनवस्था कही जाती है, वैसे ही अप्रामाण्य के परतस्त्व मानने में भी अनवस्था हो सकती है। किसी एक प्रमाण की प्रमाणता के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता और उस दूसरे प्रमाण की प्रमाणता के लिए तीसरे प्रमाण की आवश्यकता होती है। ठीक वैसे ही एक अप्रामाण्य दूसरे के अधीन और उस की सिद्धि तीसरे के अधीन होगी, क्योंकि जैसे प्रामाण्य में पराधीनता है, वैसे ही अप्रामाण्य में भी पराधीनता है। इस का

उत्तर यही है कि पराधीनतामात्र से अनवस्था नहीं हुआ करती, किन्तु अपनी समान जातिवाले दूसरों की अपेक्षा होने से अनवस्था होती है।

अतः यदि प्रमाण का प्रामाण्य दूसरे प्रमाण के अधीन, और उसका प्रामाण्य तीसरे के अधीन होगा, तब तो अनवस्था होगी। किन्तु अप्रामाण्य को तो अर्थान्यथात्व किंवा दोष के प्रमाणभूत ज्ञान ही की अपेक्षा है, अप्रमाण की नहीं। अतः एक अप्रमाण को अपने अप्रामाण्य के लिए दूसरे अप्रमाण-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। रज्जुसर्पज्ञानादि, जो प्राथमिक ज्ञान है, वही अप्रमाण होता है। 'नायं सर्पः' इत्यादि विशेष-ज्ञान बाधक ज्ञान है। पूर्वज्ञान की अप्रमाणता का निश्चायक होता हुआ ही यह उत्तरभावी ज्ञान उत्पन्न होता है।

विषय की असत्यता को ही अप्रमाणता कहा जाता है। बाधक ज्ञान स्वतःप्रमाण होता है, अतः उससे विषय की असत्यतारूप अप्रमाणता सहज में ही सिद्ध हो जाती है। इसलिए अनवस्था की सम्भावना अप्रमाणता के परतस्त्व-पक्ष में नहीं है। यहाँ यह शङ्का होती है कि जब 'इदं रजतम्' और 'नेदं रजतम्' ये दोनों ही ज्ञान परस्पर-विरोधी हैं, तब क्या कारण है कि पूर्वज्ञान बाध्य और उत्तर ज्ञान बाधक होता है? पूर्वज्ञान ही बाधक और उत्तर ज्ञान ही बाध्य क्यों न हो? यदि पूर्वज्ञान के विषय की असत्यता का बोधक, किसी तीसरे ज्ञान की सहायता से, उत्तर ज्ञान का प्राबल्य या अपने विषय की सत्यता कही जाय, तो वैसे ही पूर्वज्ञान में भी ज्ञानान्तर की सहायता से प्रबलता कही जा सकती है। इस तरह सहायक ज्ञान भी परस्पर बाधक होने से अन्य ज्ञान की अपेक्षा करेंगे, जिससे ज्ञान की अप्रमाणता में अनवस्था अपरिहार्य ही होगी।

इसका समाधान यही है कि पूर्वज्ञान से परज्ञान का बाध इसलिए नहीं होता कि पूर्वज्ञान-काल में उत्तर ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान को उत्पन्न ही न होने दें—यही बाध है; क्योंकि उत्तरज्ञान की अनुत्पत्ति तो कारण के अभाव से ही उपपन्न रहती है। फिर अनुत्पत्ति के लिए पूर्वज्ञान को हेतु मानने की क्या आवश्यकता है।

इसी तरह परज्ञान से भी पूर्वज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध नहीं होता, क्योंकि पूर्व पूर्वज्ञान तो उत्पन्न हो ही चुका है। यह भी नहीं कह सकते कि पूर्वज्ञान के समान किसी दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होने से ही 'नेदं रजतम्' 'नायं सर्पः' इत्यादि उत्तरज्ञान की बाधकता है, क्योंकि उत्तरज्ञान के प्रकट होने से पूर्वज्ञान की भ्रमरूपता स्वतः ही होगी। भ्रम का कारण इन्द्रिय आदि का वेष ही होगा और उस दोष की निवृत्ति से ही उत्तरज्ञान यथार्थ होगा। अतः उत्तरज्ञान के पश्चात् पूर्वज्ञान के समान किसी दूसरे भ्रमरूप ज्ञान के न उत्पन्न होने का कारण दोषाभाव ही हो सकता है। उसकी उत्पत्ति में परज्ञान को हेतु मानना सर्वथा बेकार है।

यह भी कहना उचित नहीं है कि द्वितीय ज्ञान का नाश ही दोष का हटना है और वही पूर्वज्ञान के समान ज्ञानान्तर का बाधक है। ज्ञान अपनी उत्पत्ति के तीसरे क्षण में नष्ट होता है, अतः उत्तर ज्ञान का नाश और दोष का हटना एक ही बात हुई। पर ज्ञान के अनन्तर पूर्वज्ञान के सदृश ज्ञानान्तर का उत्पन्न न होना परज्ञान के कारण ही है, परन्तु इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि परज्ञान ही दोष है।

जब परज्ञान के नाश को ही दोष का हटाना मान लिया,

तब तो स्पष्ट ही सिद्ध हो गया कि ज्ञान ही दोष है। परन्तु भ्रमरूप पूर्व ज्ञान के पहले बाध ज्ञान रूप दोष तो था ही नहीं तब वह भ्रम के प्रति हेतु कैसे हो सकता है ? इसलिए यह पक्ष भी असंगत है। ऐसे ही यह भी कहना ठीक नहीं है कि पर ज्ञान से पूर्वज्ञान का नाश होता है, क्योंकि यदि नाशक को ही बाधक कहा जाय, तो भ्रमात्मज पूर्वज्ञान से उत्पन्न होनेवाले स्मरणजनक संस्कार को भी, पूर्वज्ञान जा नाशक होने से बाधक कहना पड़ेगा।

और भी एक बात है कि प्रेमा भी अपने से उत्तर उत्पन्न होनेवाले आत्मविशेषगुण इच्छादि से नष्ट होती है, सो उसे भी बाध्य होने के कारण भ्रम कहना होगा। 'पूर्वज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय कराने से ही उत्तर ज्ञान को बाधक कहते हैं, यह पक्ष भी संगत नहीं है; क्योंकि सर्पाभाव और रज्जु को ही विषय करनेवाले ज्ञान का, जब पूर्वज्ञान विषय ही नहीं है, तब वह उसके अप्रामाण्यका निश्चायक कैसे हो सकता है ?

यह भी नहीं कह सकते कि "पूर्वज्ञान भ्रम है, सर्प के अभाववान् रज्जुखण्ड में सर्प प्रकाशक-ज्ञान होने से', ऐसे अनुमान का उत्थापक उत्तर ज्ञान बाधक है।" क्योंकि ऐसा मानने पर द्वितीय ज्ञान के होने पर भी प्रकृत अनुमान के उत्थान से पहले अनपोहित होने के कारण पूर्व ज्ञान को प्रवर्तक होना चाहिए। 'यह ज्ञान भ्रम है' यह बुद्धि भी बाध नहीं है। किन्तु ग्राह्य के अभाव का निश्चय ही बाध है, यही सबका सिद्धान्त है।

इसी प्रकार प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य यद्यपि स्वतः ही प्रसक्त था, तथापि द्वितीय ज्ञान से अपोहित हो जाता है। पूर्व धर्मों में ज्ञान के विशेषणीभूत अर्थ का अभावबोध होना ही पूर्व ज्ञान-का बाध है। इस भांति पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञान का बाधक नहीं होता,

क्योंकि ज्ञानान्तर से गृहीत विषय के अभावबोध को ही बाध कहा जाता है। उत्तर ज्ञान न तो पूर्व ज्ञान से गृहीत अर्थ का अभावबोधन करता है, परन्तु उत्तर ज्ञान से गृहीत विषय के अभाव का बोध पूर्वज्ञान नहीं करता। अतः वह बाधरूप नहीं हो सकता।

यह भी नहीं है कि सभी पूर्वज्ञान अपने विरोधी विषयवाले उत्तर ज्ञान से बाधित होते हों। किन्तु तभी बाधित होते हैं, जब कि उत्तर ज्ञानमें, दुष्टकारणजन्यता के बोध से 'यह ऐसा नहीं है' इस विषयान्यथात्वबोध का बोध न हो। यदि द्वितीय ज्ञान का बाधक ज्ञान विद्यमान हो, तब तो निरपवाद होकर पहला ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है। द्वितीय ज्ञान से तृतीय ज्ञान बाधित नहीं होता, क्योंकि वही ज्ञान बाधक होता है जिसमें दोषज्ञान न हो। द्वितीय ज्ञान ऐसा नहीं है, क्योंकि तृतीय ज्ञान से द्वितीय ज्ञान की सदोषता विदित हो चुकी है।

यदि तीसरे ज्ञान में भी दोष निर्णय या बाधक ज्ञान उत्पन्न हो जाय, तो फिर द्वितीय ज्ञान से भी पूर्वज्ञान का बाध होता है। 'इदं रजतम्' यह प्रथम ज्ञान उत्पन्न हुआ। 'नेदं रजतम्' यह द्वितीय ज्ञान हुआ। 'नेदं रजतमिति मिथ्याज्ञानम्' यह तीसरा ज्ञान हुआ और 'नेदं रजतमिति न मिथ्याज्ञानम्' यह चौथा ज्ञान हुआ। चारसे ऊपर पाँचवी, सातवीं संख्यावाला ज्ञान ही कार्य करेगा, अतः उन्हें तृतीय ही समझना चाहिए। षष्ठ अष्टम आदि, चतुर्थ ज्ञान के कार्य करनेवाले हैं, अतः उन्हें चतुर्थ ही मानना चाहिए। इसीलिए अप्रामाण्य-निर्णय में अनवस्था न होगी।

प्रकृत प्रसङ्ग में जो चार ज्ञान दिखलाये गये हैं, उनमें से तीसरा, चौथा तथा अन्यान्य जो भी ज्ञान होंगे, वे सब भिन्न

विषयवाले होंगे। उनमें एक ज्ञान के विषय को दूसरा ज्ञान विषय नहीं करता। अप्रामाण्य-ज्ञान तो बाधक-ज्ञान तथा कारण-दोषज्ञान से होता है और बाधक-ज्ञान साक्षात् पूर्वज्ञान को बाधता है, परन्तु कारण-दोषज्ञान पूर्वज्ञान के भ्रमत्व-ज्ञापन द्वारा ही विषयान्यथात्वरूप बाध करेगा।

ज्ञान का अप्रामाण्य परतः होता है। इसीलिए ज्ञान के कारणों में दोष के संशय से ज्ञान के अप्रामाण्य का संशय हो जाता है। अतः प्रमाण में भी स्वाभाविकी अप्रमाणता-सी प्रतीत होती है। एवं स्वतःप्रामाण्य पक्ष में भी अप्रामाण्य-संशय होता है। जैसे चक्षुरादि प्रमाणों का प्रामाण्य (सत्यज्ञान की उत्पादकता) स्वाभाविक है, वैसे ही शब्दों का प्रामाण्य स्वाभाविक है। पौरुषेय वाक्यों में अप्रामाण्य वक्ता के भ्रमादि दोषों के अधीन होता है। जहाँ वक्ता के गुणों से दोषों का अभाव-निश्चय हो जाता है, वहाँ लौकिक वाक्य में भी स्वाभाविक प्रामाण्य बना ही रहता है, उसका अपोहन नहीं होता। और जहाँ दोषाभाव निश्चित नहीं हुआ, वहाँ लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य अपोहित हो जाता है, अतः वहाँ अप्रामाण्य होता है। यहाँ अपौरुषेय वेद का निर्माता तो कोई है ही नहीं, अतः भ्रमादि दोषों का आश्रय ही नहीं है। इसलिए वेदों के औत्सर्गिक प्रामाण्य का निराकरण नहीं हुआ। अतः वेद प्रमाण हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि 'लौकिक वाक्यों की प्रमाणता पुरुषों के यथार्थ-ज्ञानवत्त्व सत्यवक्तृत्वादि गुणों से ही मानी जाती है। वेद का वक्ता न होने से जैसे उसमें दोष नहीं, वैसेही गुण भी नहीं, अतः फिर भी वेदों का अप्रामाण्य ही रहा' परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि गुण प्रामाण्य के कारण नहीं है यह

पहले ही कहा जा चुका है। दोष का न होना ही प्रामाण्य का कारण है। लौकिक वाक्यों में वक्ता के दोष हो सकते हैं, अतः वहाँ अप्रमाणता भी हो सकती है। वेद का वक्ता कोई है ही नहीं, इसलिए बिना विवेचन के उसकी प्रमाणता अपने आप ही सिद्ध है।

यदि यह कहा जाय कि 'फिर भी दोषों के अभाव की आवश्यकता तो वेदों के प्रामाण्य के लिए अपेक्षित ही है, फिर अपने आप (स्वतः) प्रमाणता कैसे हुई?' सो भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ दोषाभाव का उपयोग वेदों के प्रामाण्य में नहीं है। दोष से प्रामाण्य का अपवाद होना सम्भव है, क्योंकि दोषाभाव के ज्ञान से अपवाद का अभाव जाना जाता है। इसलिए प्रामाण्य के अपवादाभाव में ही दोषाभाव को हेतुता है, न कि प्रामाण्य में। जहाँ विपरीत बाधक-ज्ञान से साक्षात् ही पूर्वज्ञान का मिथ्यात्व (भ्रमत्व) जाना जाता है और जहाँ ज्ञान-कारण के दोषज्ञान से ज्ञान का मिथ्यात्व-निश्चय किया जाता है, उन दोनों ही स्थलों में ज्ञान के अप्रामाण्य का कारण दोष ही है। गुणों का उपयोग दोषों के अभाव में है। अतएव दोष न होने से ही वेदों में किसी प्रकार का भी अप्रामाण्य नहीं होगा। स्वाभाविक प्रामाण्य के अपवाद में कोई कारण नहीं है। अतः जब प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह ज्ञान के कारण होने से पौरुषेय वाक्य में भी औत्सर्गिक प्रामाण्य का अपोहन नहीं होता, तो फिर अपौरुषेय वेदवाक्यों की, जिनमें दोषाभाव स्वतःसिद्ध है, दृढ़तर प्रमाणता को हटा ही कौन सकता है?

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि 'पौरुषेय वाक्यों में यदि दोषाभाव गुणों से जाना जाता है और उनकी प्रमाणता के लिए

दोषाभाव की आवश्यकता है—इस पक्ष में अनवस्था दोष आ जाता है।' सो भी ठीक नहीं है, जब गुणों को प्रामाण्य का कारण माना जाता है, तब तो उनका ज्ञान भी अपेक्षित होता है। अर्थात् ज्ञानमय होकर गुण प्रामाण्य के प्रयोजक होते हैं, इसलिए अनवस्था होती है। परन्तु जहाँ दोषाभाव को ही प्रामाण्य का प्रयोजक मानते हैं, वहाँ तो गुणों की सत्तामात्र से दोषाभाव बन जाता है; वहाँ गुणों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। गुण अपनी सत्ता से ही दोषों को हटाकर प्रामाण्य के अपवाद को दूर कर देते हैं। प्रमाणों का प्रामाण्य स्वाभाविक ही रहता है, इसलिए अनवस्था आदि कोई भी दोष नहीं हो सकता।

वेद में तो वक्ता न होने से गुण की अपेक्षा के बिना ही दोष-भाव सिद्ध है। अतः यहाँ अपवाद की शंका भी नहीं हो सकती। पौरुषेय वाक्य तो अपनी उत्पत्ति के लिए वक्ता की अपेक्षा रखते हैं, अतः उनके प्रामाण्य में दोषाभाव की अपेक्षा होती है, पर गुणों की नहीं। नैयायिक आदि दार्शनिकों ने ईश्वरोक्त होने से वेद के प्रामाण्य-व्यवस्थापन का जो प्रयत्न किया है, वह व्यर्थ ही है, क्योंकि जैसे पौरुषेय होने से नैयायिक वेद का प्रामाण्य मानेगा, वैसे ही बौद्धादि भी अपने-अपने दर्शनों के पौरुषेय होने पर भी उनका प्रामाण्य स्थापित करेंगे। यदि पुरुषा-श्रित भ्रम-प्रमादादि दूषणों से उनके प्रामाण्य को दूषित समझा जायगा, तब तो वही आपत्ति वेदों पर भी लागू होगी। फिर नैयायिकों को सिवा शपथ के और कोई अवलम्बन ही नहीं रह जायगा। इसलिए आप्तनिर्मित आगम का भी प्रामाण्य होता है। अतः यदि वेद आप्तनिर्मित नहीं हैं, तो उनका प्रामाण्य न होगा' यह कथन निर्मूल है।

यद्यपि पौरुषेय वाक्यों का भी प्रामाण्य स्वतः, अपने आप ही होता है, तथापि पुरुषाश्रित दोषों से दूषित होने की शङ्का से उसका अपवाद भी हो जाया करता है। प्रामाण्य के इसी अपवाद का निवारण करने के लिए पौरुषेय वाक्य का मूलभूत (जिस प्रमाण से वाक्यार्थज्ञानपूर्वक वाक्य का प्रयोग हुआ है) प्रमाणान्तर अवश्य ही अपेक्षित होता है। यदि पौरुषेय वाक्य का मूलभूत कोई दूसरा प्रमाण न होगा, तब तो पौरुषेय वाक्य अप्रमाणमूलक होने से भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि दोषमूलक ही समझे जायँगे और उनका प्रामाण्य दोषों से अवश्य ही अपोहित हो जायगा। वेद में मूलभूत कोई प्रमाण न हो, तो भी अप्रमाणमूलकता का आक्षेप नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ वाक्यों का रचयिता कोई पुरुष निश्चित रहता है, वहीं वाक्यों को अप्रमाणमूलक कहा जाता है और वहीं दोष और उनसे स्वाभाविक प्रामाण्य के अपवाद की कल्पना की जा सकती है। जिन वाक्यों या ग्रन्थों का कोई रचयिता मान्य ही नहीं, फिर उन वाक्यों में उपर्युक्त कारणों से अप्रामाण्य कैसे होगा? प्रत्युत जैसे दोषाभाव वेदों के प्रामाण्य को पुष्ट करता है, वैसे ही मूलभूत प्रमाणान्तर का अभाव भी वेदवाक्यों के प्रामाण्य को अधिक पुष्ट करेगा।

प्रमाणान्तर से सिद्ध अर्थ के बोधक प्रमाण का तो स्मृति की तरह अप्रामाण्य ही समझा जाता है। जब प्रमाणान्तरमूलकता न होगी, तभी अज्ञातज्ञापकत्वेन वेद का मुख्य प्रामाण्य सिद्ध होगा। अग्निहोत्र होम और स्वर्ग का हेतुहेतुमद्भाव प्रमाणान्तर से सर्वथा अज्ञात है, तभी "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि वेदवाक्यों का अज्ञातज्ञापक होने से प्रामाण्य है।

यहाँ यह शंका उठायी जाती है कि 'मान लिया जाय कि प्रमाणों का प्रामाण्य गुण के परतन्त्र नहीं है, दोषाभावमात्र से उनका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। किन्तु 'प्रमाणान्तर का संवाद (सम्मति) भी प्रामाण्य का कारण नहीं है' यह कथन तो किसी भी तरह नहीं जँचता, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा पौरुषेय वाक्यादि में प्रामाण्य की दृढ़ता का कारण प्रमाणान्तर-सम्मति ही है। अर्थात् यदि दूसरे प्रमाण से मेल मिल जाय, तो प्रमाण का प्रामाण्य (सत्यता) निश्चित हो जाता है और यदि किसी प्रमाण का दूसरे प्रमाण के साथ मिलान न हुआ, तब तो उसके प्रामाण्य में सन्देह ही रहता है। शंका उठती है कि वेद में दूसरे प्रमाणों का मेल बिलकुल नहीं मिलता। फिर उनका दृढ प्रामाण्य कैसे माना जाय?' इसका उत्तर यही है कि प्रामाण्य (सत्यता) का कारण प्रमाणान्तर का संवाद कहीं भी नहीं देखा गया। जहाँ एक विषय में अनेक विज्ञानों का संमर्द होता है, वहाँ वे सब ज्ञान अन्योन्यनिरपेक्ष हो स्वतन्त्र रूपसे प्रमाण होंगे। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी मिलकर एक के प्रामाण्य में उपकार करेंगे। ज्ञानान्तर-संवाद यदि ज्ञान के प्रामाण्य का हेतु हो, तब तो सहस्रों नैयायिकों से साधित शब्द की अनित्यता का मीमांसक खण्डन न करते और न अनेक मीमांसकों द्वारा प्रसाधित शब्द-नित्यता का नैयायिक आदि ही खण्डन करते। अर्थात् यदि दो-चार नैयायिक या मीमांसकों के ज्ञानों से एक ज्ञान का मेल मिल जाय, तो उसका दृढ़ प्रामाण्य सभीको मान लेना चाहिए और एक दार्शनिक को दूसरे दार्शनिक के सिद्धान्त का खण्डन न करना चाहिए। किन्तु देखा इससे विपरीत ही जाता है।

कहा जाय कि 'जैसे दो-चार रत्नपरीक्षकों के संवाद से ही हीरा

आदि रत्नों के गुण या दोष विदित होते हैं और उन्हींके अनुसार क्रय-विक्रयादि व्यवहार भी होते हैं। इसी तरह यदि संवाद से प्रमाणता का निश्चय न किया जायगा, तो व्यवहार कैसे होगा?' किन्तु यह ठीक नहीं। यहाँ भी अन्योन्य-संवाद अन्योन्य-प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वोक्त व्यभिचार से कार्यकारण-भाव का निर्णय असम्भव है। यदि ज्ञानान्तर-संवाद ज्ञानान्तर के प्रामाण्य में अव्यभिचरित कारण होता, तो सहस्रों नैयायिकों के ज्ञानों से संवादी शब्द की अनित्यता का खण्डन कैसे किया जाता? अतः अनवस्था और व्यभिचार के भय से विवश होकर कहना पड़ेगा कि एक ज्ञान का औत्सर्गिक, स्वतःसिद्ध प्रामाण्य ही तत्र-तत्र व्यवहार का कारण है। यहाँ यह शंका की जाती है कि 'यदि ज्ञान का प्रामाण्य किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, तो फिर एक ही विषय को दूर से देखने पर समीप जाकर जानने की इच्छा क्यों होती है? इससे तो यही मालूम होता है कि प्रथम ज्ञान से ठीक वस्तु का निश्चय नहीं हुआ, इसीलिए दूसरे ज्ञान से सम्मति की अपेक्षा होती है।' यह कहना भी ठीक नहीं है। व्यवहार और तत्त्वनिर्णय में बहुत भेद हुआ करता है। व्यवहार बिना तत्त्वनिश्चय के भी हो सकता है। अनावृष्टि आदि अनेक विघ्नों की सम्भावना से, फललाभ में सन्देह रहने पर भी कृषि आदि व्यवहार होते ही हैं। ऐसे ही जब सैकड़ों संवादों के रहते हुए भी अप्रामाण्य हो सकता है, तब तो दो-चार रत्नपरीक्षकों के ज्ञानसंवाद से ही संतोष करना पड़ता है। अन्यथा यदि उस संवाद के संवादार्थ अन्य ज्ञानको ढूँढ़ते फिरें, तो अनवस्थादि अवश्य ही होंगे। अतः आँख मूँदकर एक ज्ञान पर विश्वास करना ही पड़ेगा। दूरस्थ

वस्तु में जो विशेषांश है, उसकी प्रमा दूर से नहीं हो सकती, अतः उस अप्रमित अंश के जानने के लिए इच्छा होती है। अतः समीप जाकर देखने की इच्छा से भी ज्ञानान्तर का संवाद प्रामाण्यका कारण नहीं हुआ। अतएव प्रमाण को अपने प्रामाण्य के लिए ज्ञानान्तर-संवाद की अपेक्षा नहीं है।

इसके सिवा जैसे गुणों को प्रमाणता के निश्चय का कारण मानने में अनवस्था दोष होता है, वैसे ही संवाद को भी यदि प्रामाण्य का हेतु मानेंगे, तो वहाँ भी एक ज्ञान की प्रमाणता के लिए दूसरे ज्ञान का संवाद और उस ज्ञान की प्रमाणता के लिए फिर तीसरे ज्ञान के संवाद की अपेक्षा होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष यहाँ भी अनिवार्य होगा।

नैयायिक तथा बौद्धों का यह कथन है कि 'विषयज्ञान का प्रामाण्य अर्थ-क्रियाकारिता से होता है और अर्थक्रिया का प्रामाण्य स्वातन्त्र्येण मान्य होना चाहिए। जैसे जलज्ञान के अनन्तर पान, अवगाहनादि कार्य देखने से जलज्ञान की यथार्थता विदित होती है। ये सब कार्य ही अर्थ-क्रिया है और उस अर्थ-क्रिया का ज्ञान अपने आप ही प्रमाण होता है। इस भाँति अनवस्था भी नहीं है तथा परतःप्रामाण्यवाला पक्ष ही ठीक है। अतः वेदों का स्वतःप्रामाण्य कथमपि बन नहीं सकता।' किन्तु यह पक्ष भी अविचारित-रमणीय है। कारण जब अर्थक्रिया-ज्ञान में अनवस्था-परिहार के लिए स्वतःप्रामाण्य मान लिया गया, तब लाघवात् प्रथम ज्ञान में ही स्वतःप्रामाण्य पक्ष का क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ?

यहाँ यह कहा जाता है कि 'प्रथम ज्ञान की अपेक्षा अर्थक्रिया-ज्ञान में अव्यभिचार की ही विशेषता है। अर्थात्

पान, अवगाहनादि कार्य व्यभिचारी (झूठा) नहीं होता, जब कि प्रथम जल ज्ञान झूठा भी हो जाता है। अतः पहले ज्ञान में स्वतःप्रामाण्य नहीं, द्वितीय ज्ञान में होता है। यहाँ यह जो समझा जाता है कि स्वप्न में स्नान-पानादि कोई भी अर्थक्रिया नहीं होती, पर उन अर्थक्रियाओं का ज्ञान होता है। अतः अर्थक्रिया में भी व्यभिचार (झूठापन) है, फिर उसका स्वतःप्रामाण्य क्यों माना जाय?' सो भी ठीक नहीं; क्योंकि स्नान-पानादि मुख्य अर्थक्रिया नहीं है, किन्तु सुख-दुःख ही मुख्य अर्थक्रिया है। सुख-दुःख न रहने पर सुख-दुःख का अनुभव कदापि नहीं हो सकता। सुख-दुःख अपने-अपने अनुभव के साथ ही उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं। यही सुख-दुःखज्ञान मुख्य अर्थक्रियाज्ञान है, उसका व्यभिचार कभी नहीं होता। अतः वे ही स्वतः प्रमाण हैं।'

इन सब आक्षेपों का समाधान यही है कि सुख-दुःखादि प्रत्यक्षरूप अर्थक्रियाज्ञान से पूर्वज्ञान का प्रामाण्य कथमपि निर्णीत नहीं होता, क्योंकि स्वप्न में होनेवाला जो मिथ्या प्रिया-सङ्गमविज्ञान है, उसमें सुखानुभव सभीको मान्य है। परन्तु क्या इतनेमात्र से वह मिथ्या प्रिया-सङ्गम-विज्ञान प्रमाण हो सकता है? यदि नहीं, तो फिर सुख-दुःखप्रत्यक्षरूप अर्थक्रिया-ज्ञान से पूर्वज्ञान की प्रमाणता कैसे हो सकती है?

इसके सिवा यदि एक ज्ञान को अपने प्रामाण्य के लिए अन्य ज्ञान के संवाद की अपेक्षा हो, तब तो श्रोत्रजन्य शब्द-विज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि सिवा श्रोत्र के और किसी करण से शब्द का ज्ञान होता ही नहीं। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि श्रावण ज्ञान का उसके विजातीय

चाक्षुषादि ज्ञान से संवाद (मेल) नहीं होता, तथापि दूसरे सजातीय श्रावण ज्ञानों के साथ संवाद होने से ही उसका प्रामाण्य सिद्ध हो जायगा', तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि वेदजन्य वेदार्थज्ञान का भी यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से संवाद नहीं होता, तथापि भिन्नकालिक उच्चारण के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले दूसरे वेदार्थविज्ञानों के साथ संवाद होने से प्रामाण्य बन जायगा।

एक वेदवाक्य के अनेक बार उच्चारण से अनेक बार वाक्यार्थज्ञान होता ही है। तथाच एक वाक्यार्थज्ञान का सजातीय दूसरे वाक्यार्थज्ञान से संवाद है ही। फिर प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों के साथ संवाद न होनेमात्र से वेदों के अप्रामाण्य की शङ्का कैसे हो सकती है? इन सब विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाणों को अपनी प्रमाणता में गुण, संवाद या अर्थक्रिया के ज्ञानों में से किसीकी भी अपेक्षा नहीं होती। ऐसी स्थिति में अपौरुषेय वेदों का भी निरपेक्ष-प्रमाणत्व सिद्ध ही है।

अब, जो यह कहा जाता है कि 'जो वाक्य आप्त (सत्यवादी) से निर्मित नहीं है, ऐसे मिथ्यावादियों से निर्मित वाक्यों का प्रामाण्य नहीं देखा जाता। वेद भी यदि किसी आप्त के बनाये नहीं हैं, तो उनके अप्रामाण्य का ही अनुमान हो सकता है।' सो भी ठीक नहीं। कारण यह कि प्रमाण की सिद्धि के लिए अनुमान की अपेक्षा नहीं होती। अनुमान में दृष्टान्तों की अपेक्षा हुआ करती है। अतः वेद से भिन्न आप्त से न रचे हुए वाक्यों का प्रामाण्य अदृष्ट होने पर भी कोई हानि नहीं। यदि किसी भी प्रमाण को अपनी प्रमाणता के लिए अनुमान की अपेक्षा मानी जायगी, तब तो उस अनुमान को भी अपनी प्रमाणता

के लिए दूसरे अनुमान की अपेक्षा होगी। इस तरह अनवस्था अपरिहरणीय हो जायगी।

यहाँ यह भी शङ्का होती है कि 'यदि मान भी लिया जाय कि प्रमाणों की प्रमाणता स्वतः ही है, पर उसका ग्रहण कैसे होगा ? ज्ञान जिस आकारवाला होता है, उसीका निश्चायक होता है। घटज्ञान का आकार या विषय तो घट ही है। 'मैं स्वतः प्रमाण हूँ' ऐसा आकार तो घटज्ञान का है नहीं। फिर घट के सिवा घटज्ञान से अपना प्रामाण्य कैसे निश्चित होगा, जब कि ज्ञान अपने आपको ही ग्रहण नहीं कर सकेगा ? यदि ज्ञान की प्रमाणता ही अविज्ञात है, तो फिर उससे कोई भी व्यवहार कैसे हो सकेगा ?' इसका समाधान यही है यद्यपि एक में ही ग्राह्य-ग्राहकभाव न बनने के कारण ज्ञान अपना ग्राहक नहीं होता, इसी कारण उसकी अप्रमाणता भी अविज्ञात ही है, तथापि अपने विषय का निश्चयरूप विज्ञान अविज्ञात रहकर ही सत्तामात्र से व्यवहार सिद्ध करेगा ? व्यवहारों को अपनी सिद्धि में अपने हेतुभूत ज्ञान के ज्ञान की या ज्ञान के प्रामाण्यज्ञान की अपेक्षा नहीं होगी। फललाभ में सन्देह रहने पर भी कृषि और क्रय-विक्रयादि व्यवहारों की प्रवृत्तियाँ देखी ही जाती हैं।

हाँ, व्यवहारों के होने से यदि किसीको उन व्यवहारों के कारणभूत ज्ञानों के प्रामाण्य की जिज्ञासा हो, तो 'अमुक ज्ञान प्रमाण था, सफल प्रवृत्ति का जनक होने से, सम्प्रतिपन्न की भाँति' ऐसे अनुमानों से व्यवहारजनक ज्ञानों की प्रमाणता गृहीत हो सकती है। अनुमान से निश्चित होनेवाली यह प्रमाणता भी ज्ञान की नहीं, किन्तु विषय की सत्यता ही है। जिस ज्ञान का विषय सत्य होता है, वही ज्ञान प्रमाण कहा

जाता है। अतः विषय की सत्यतारूप प्रमाणता ही ज्ञान की प्रमाणता है।

'ज्ञान प्रमाण है' ऐसा व्यवहार भी विषय-सत्यता के ही आधार पर होता है। घटादि विषयों की सत्यतारूप प्रमाणता तो अज्ञात ज्ञान से ही निश्चित हो सकती है, क्योंकि स्वभाव से ही सभी ज्ञान अपने प्रकाश्य विषय की सत्यता के निश्चायक होते हैं। अतः 'ज्ञान प्रमाण है' ऐसे व्यवहार के लिए ज्ञान के ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं है। फिर प्रामाण्य की बात ही क्या?

शुक्तिका में रजतज्ञान अप्रमाणभूत ज्ञान है। वह स्वविषय-मिथ्यात्वरूप अप्रामाण्य का प्रकाश नहीं करता, क्योंकि शुक्तिका में रजत का न होना ही उस ज्ञान की अप्रमाणता है। शुक्तिका में रजतभ्रमरूप ज्ञान उसमें रजत का न होना कैसे प्रकाशित कर सकता है? रजतज्ञान अपने विषय के अनुसार मिथ्याभूत रजत को ही ग्रहण करता है। यदि रजतज्ञान अपने विषयान्यथास्वरूप अप्रामाण्य का अपने आप ही ग्रहण करे, तब तो 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) यही उस ज्ञान का आकार होना चाहिए। परन्तु 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का वैसा आकार नहीं है।

ज्ञानों में अपने विषयों की सत्यतारूप प्रमाणता स्वाभाविकी है। उसीका माहात्म्य है कि अप्रमाणभूत रजत-भ्रमादि ज्ञान, जबतक 'नेदं रजतम्' ज्ञान से बाध न हो तबतक, अपने प्रामाण्य का प्रकाशन करता हुआ स्वाकार के अनुरूप प्रवृत्ति तथा निवृत्ति सम्पादन करता है। यहाँतक कि कहीं 'नायं सर्पः' ऐसे बाध-ज्ञान से सर्पज्ञान का मिथ्यात्व-निश्चय हो जाने पर भी कुछ क्षणतक सर्पज्ञान का कार्य भय, कम्पादि उपद्रव बने ही

रहते हैं। सारांश यही कि ज्ञान अपने अप्रामाण्य का स्वयं ग्राहक नहीं हो सकता। अतः रजतज्ञान के अप्रामाण्य-ग्रहण के लिए और उससे होनेवाले प्रवृत्त्यादि-व्यवहार की निवृत्ति के लिए 'नेदं रजतम्' ऐसे बाधज्ञान की अपेक्षा होती है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ज्ञान की प्रमाणता स्वाभाविकी है और अप्रमाणता बाधकभूत दूसरे ज्ञान से होती है। जिन लोगों ने आप्तप्रणीतत्वादि हेतुओं से अनुमान द्वारा वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उनका वह प्रयत्न निष्फल है; क्योंकि अनुमान द्वारा वेद की अप्रमाणता सिद्ध ही नहीं हो सकती।

किसी भी वाक्य की अप्रमाणता के लिए वक्ता का दोषज्ञान या वाक्यार्थ का बाधज्ञान, ये ही दो हेतु अपेक्षित हैं। जब कि वेदों का कर्ता ही नहीं है, तब वक्ता के दोषों की कल्पना का कोई आधार ही नहीं रह जाता। फिर, वेदवाक्यों के अर्थ धर्म और स्वर्गादि ऐसे हैं, जिनका ज्ञान सिवा वेदों के किसी प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों से हो ही नहीं सकता। इस भाँति जब अज्ञात-ज्ञापक वेदवाक्यों का अर्थ अनुमानादि से जाना नहीं जाता, तब उसकी असत्यतारूप अप्रमाणता भी अनुमानादिकों से कैसे जानी जायगी? जो जिसके स्वरूप को नहीं जानता, वह उसके अस्तित्व-नास्तित्व के विषय में भी क्या कह सकता है? वेदवाक्यार्थ की असत्यता ही 'वेदों का अप्रामाण्य है। जब स्वर्गादि वेदार्थ प्रत्यक्षानुमानादि द्वारा जाना ही नहीं जाता, तब उसकी असत्यता भी अनुमानादि से ज्ञात नहीं हो सकती। अतः अनुमानादि द्वारा वेदों के अप्रामाण्यापादन का यत्न व्यर्थ ही है।

अतएव नैयायिकों ने आगम से अविरुद्ध अर्थ में ही अनुमान की सामर्थ्य मानी है। आगमविरुद्ध प्रत्यक्ष तथा अनुमान स्वयं ही बाधित हो जाते हैं। जैसे किसीने स्थूलदृष्टि से निर्मल देखकर मृत मनुष्य के शिर को पवित्र कहा या किसीने "नरशिरःकपालं शुचिः प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खशुक्तिकादिवत्"—'मनुष्य का कपाल पवित्र है, प्राणी का अङ्ग होने से, शङ्ख की तरह' ऐसा अनुमान करके उसे पवित्र कहा। किन्तु धर्मशास्त्र तो "नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्"—'मनुष्य की सस्नेह अस्थि को स्पर्शकर सचैल स्नान करना चाहिए', इस प्रकार उसे अपवित्र और अस्पृश्य कहता है। प्रत्यक्षदर्शी और आनुमानिक के लिए तो अशुद्धि केवल मलमूत्रादि-संसर्गमात्र है और मलमूत्रादि का संसर्ग न होना ही शुद्धि है। परन्तु आगमगम्य शुद्धि और अशुद्धि कुछ और ही है, जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान से समझी ही नहीं जा सकती। पापरूप अशुद्धि और पाप का अभावरूप शुद्धि जब प्रत्यक्ष-अनुमानादि का विषय ही नहीं है, तब शास्त्रीय अर्थ के बाध में प्रत्यक्ष-अनुमान की सामर्थ्य कैसे कही जा सकती है?

यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'जैसे वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया जा रहा है, वैसे ही मिथ्यावादियों के भी किन्हीं अलौकिक अद्भुत वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध हो जायगा।' क्योंकि पौरुषेय वाक्यों की प्रमाणता मूलप्रमाणता के ही अधीन हुआ करती है। अर्थात् सत्यवादी पुरुष किसी प्रमाण से अर्थ का निर्णय करके ही बोलता है। मिथ्यावादी पुरुष के अद्भुत वाक्य की परीक्षा करने पर मूलप्रमाण नहीं मिलता; उल्टे पुरुष के मिथ्याभाषणादि दोषों को जानकर उसके वाक्य में अप्रमाणताबुद्धि ही अधिक स्पष्ट होती है।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि 'जैसे आगम-वाक्यों से अनुमान का बाध हो जाता है, वैसे ही अनुमान से वेद का ही बाध क्यों न हो' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब अनुमानों से वेदार्थ का बाध निश्चित हो जाय, तभी वेदार्थ में मिथ्यात्व या अप्रामाण्य आ सकता है और जब वेदार्थ का मिथ्यात्व सिद्ध हो, तभी वेदार्थ की अप्रमाणता का अनुमान हो सकता है—इस भाँति यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ता है।

यह भी कहना असंगत है कि 'जैसे अनुमान से भिन्न और किसी प्रमाण से वेदार्थ का बाध नहीं होता, वैसे ही वेद से भिन्न और किसी प्रमाण से वेदार्थ की सिद्धि भी नहीं होती। फिर वेदार्थ की सत्यता कैसे सिद्ध होगी?' हमारा यह कथन नहीं कि वेदार्थ के बाध में अनुमान को छोड़कर दूसरा प्रमाण नहीं, इसलिए वेदार्थ ठीक है। किन्तु वेदार्थ में किसी भी तरह अनुमान की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती और वेदार्थ को सिद्ध करनेवाला वेद है ही। किसी भी एक प्रमाण से जो अर्थ जाना जाय, वह केवल दूसरे प्रमाण से अज्ञात होनेमात्र से अप्रामाणिक नहीं समझा जा सकता; क्योंकि ऐसा होने पर तो जिह्वा और श्रोत्र आदि से गृहीत होनेवाले रस और शब्दादि भी नेत्रादि से अगृहीत होने के कारण अप्रामाणिक ठहर जायँगे। जो प्रमेय अर्थ एक प्रमाण से सिद्ध हो गया, उसे अपनी सिद्धि के लिए दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। अतएव वेद प्रमाण से जिस धर्म, याग, स्वर्गादि की सिद्धि हुई, उन्हें अपनी सिद्धि में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'प्रवर्तक-निवर्तक विधिवाक्यों

को जो प्रमाण मानते ही नहीं, उनके मत में वेदार्थ का अभाव सिद्ध करनेवाले अनुमानों पर वेदविधिविरुद्धत्व दूषण कैसे दिया जा सकता है ?' इसका उत्तर यही है कि यद्यपि नास्तिक वेदों को प्रमाण नहीं मानता, तथापि आस्तिक वैदिक तो मानता ही है। वैदिक को समझाने के लिए ही अवैदिक वेदार्थ-बाधक अनुमान उपस्थापित करेगा। किन्तु वेदविरुद्ध अनुमान से वैदिक वेदार्थबाध कैसे मान सकेगा, क्योंकि उसके मन में तो यह बात दृढ़ रहती है कि वेदविरुद्ध अनुमान अप्रामाणिक होता है। अतः वैदिक की बुद्धि में अनुमान से आगम का बाध जम नहीं सकता।

यदि कहा जाय कि 'फिर वैदिक के ही मत में वेदों का प्रामाण्य कैसे सिद्ध होगा ?' तो वह भी असङ्गत है। क्योंकि वेद से यदि सन्देहरूपा प्रतीति होती, तब तो उसके प्रामाण्य के लिए दूसरे साधन की अपेक्षा पड़ती। यहाँ तो अवैदिक नास्तिक को भी मानना पड़ेगा कि वेदों से "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" की तरह संशयरूप ज्ञान नहीं होता। साथ ही उसे यह भी मानना पड़ेगा कि जब वेदार्थ में प्रत्यक्ष और अनुमान की गति ही नहीं है, तब उनसे वेदार्थ का अभाव (बाध) भी ज्ञात नहीं हो सकता। जब प्रत्यक्षादि से वेदार्थ-बाधबुद्धि न हुई, तब वेदार्थ-बोध को भ्रम भी कैसे कहा जा सकता है ?

फिर वैदिक शब्दों से वेदार्थ का बोध नहीं होता, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपने-अपने अर्थ का बोध कराना शब्दों का अनिवार्य स्वभाव है। जैसे वैदिकों को वैदिक शब्दों के श्रवण से वेदार्थबोध हो सकता है, वैसे ही संस्कृत जाननेवाले नास्तिकों को भी वेदार्थबोध होता ही है। यह नहीं हो सकता कि अग्नि मेरे लिए

होती, तब बिना भ्रान्ति आदि के उनका खण्डन या मण्डन दोनों ही नहीं बन सकते।

अतः धर्म और ईश्वर के विषय में बुद्धादिवाक्य सर्वथा भ्रमादिमूलक हैं। इसीसे उनकी साधारण लौकिक वाक्यों जैसी साधारण प्रमाणता भी हट गयी। किन्तु वेद तो अपौरुषेय होने से नित्य, निर्दोष, अबाधित और स्वतःप्रमाण हैं। फिर उनकी पौरुषेय वाक्यों के साथ बराबरी कैसे की जा सकती है?

रजतादि अर्थों की सत्यता ही उनका प्रामाण्य है। मुख्य प्रामाण्य अर्थों में ही रहता है, ज्ञान में तो गौणी वृत्ति से ही प्रामाण्य का व्यवहार है, क्योंकि ज्ञान असत्य भी हुआ करता है। विषयरूप अर्थ की सत्यता के कारण ही ज्ञान में भी सत्यता और प्रमाणता का व्यवहार होता है। अर्थों की सत्यता के साथ ज्ञानों का सम्बन्ध स्वाभाविक है। इसीसे उक्त सम्बन्ध में अन्य की अपेक्षा नहीं होती। यही स्वतःप्रमाण्य है। अप्रामाण्य भी अर्थों में ही रहता है। रजत-भ्रमस्थल में रजत की असत्यता से ही उस ज्ञान का अप्रामाण्य है। रजत-भ्रमज्ञान से रजत की असत्यता प्रकाशित नहीं होती, किन्तु "नेदं रजतम्, किन्तु शुक्तिरियम्" यही ज्ञान रजत की असत्यता सिद्ध करता है। इसीसे रजतज्ञान का अप्रामाण्य परतः कहा जाता है।

इस विषय में और भी अनेक प्रकार के विचार उठाये गये हैं। स्वतःप्रमाण के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि 'स्वतः-प्रामाण्य' इस शब्द में 'स्व' शब्द क्या आत्मा अर्थात् ज्ञान का वाचक है या आत्मीय ज्ञानसामग्री आदि का वाचक है? साथ ही क्या प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है या स्वतः ज्ञात होता

उष्ण हो और अवैदिक के लिए वैसा न हो। जब वेदवाक्यों से वैदिक और वेद-बाह्यों को समान ही बोध उत्पन्न होता है, तब उस वेदार्थ-बोध का विषय भी समान ही होगा। बोध का यह स्वभाव ही है कि वह अपने विषय के स्वाभाविक रूप का ही अवगाहन करता है और वह स्वाभाविक रूप ही उस ज्ञान की सत्यता और प्रमाणता है। फिर तो जैसे वैदिकों का वेदार्थ-बोध वेदार्थ की सत्यतारूपी प्रमाणता को विषय करता है, वैसे ही वेदबाह्यों का भी वेदार्थ-बोध उसकी प्रमाणता को विषय करेगा।

वेदार्थ की प्रमाणता ही वेद की प्रमाणता है। ऐसी स्थिति में वेद-बाह्यों का भी यह कहना कि 'वेद को प्रमाण नहीं मानते', मिथ्या ही है। किसीकी इच्छा या स्वीकृतिमात्र से किसी ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। अन्यथा मनोराज्य के ज्ञानों की प्रमाणता अनिवार्य हो जायगी। इसी भाँति किसी पदार्थ के अस्वीकार या द्वेष से किसीकी अप्रमाणता सिद्ध नहीं होती। अन्यथा प्रत्यक्ष से भी वह्निजन्य दाहादिकों के द्वेषमात्र से अप्रामाणिकता हो जायेगी।

अब, यहाँ सन्देह यह होता है कि यदि ज्ञान को उत्पन्न करानेमात्र से वेद की प्रमाणता है, तो उसी हेतु से बुद्धादि-वाक्यों की भी प्रमाणता माननी पड़ेगी।' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण अप्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय पदार्थों में पुरुष की दर्शनशक्ति नहीं होती, अतीन्द्रिय पदार्थों में प्रत्यक्षादि की प्रवृत्ति असम्भव है। इसलिए बुद्धादिवाक्यों का मूल सिवा भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि दोषों के और कुछ नहीं हो सकता। अर्थात् धर्म तथा ईश्वर के भाव तथा अभाव दोनों स्थलों में जब प्रत्यक्षादि की प्रवृत्ति नहीं

है ? क्या वह विषयसत्यता का रूप है अथवा ज्ञान में रहनेवाली विषयों की सत्यता निश्चित करानेवाली शक्ति है ?'

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि 'स्व' शब्द आत्मा का वाचक है और प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न नहीं होता, अपितु स्वतः ज्ञात होता है। अभिप्राय है यह कि ज्ञान का प्रामाण्य अपने आप अर्थात् ज्ञान से ही ज्ञात होता है। विषयों की सत्यता को ही प्रामाण्य कहा जाता है।'

इसके विपरीत कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'विषय की सत्यता को प्रकाशित करना ही ज्ञान का प्रामाण्य है। यह प्रामाण्य स्वतः अर्थात् आत्मीय कारणसामग्री से ही ज्ञान की भाँति उत्पन्न होता है, वह ज्ञानसामग्री से अधिक किसी गुण आदि की अपेक्षा नहीं करता। असत्य विषय को प्रकाश करनेवाला अप्रामाण्य भी ज्ञान का ही धर्म है, किन्तु वह स्वतः (कारणसामग्री) इन्द्रियादि से नहीं, इन्द्रियादि के दोषों से उत्पन्न होता है। इसीलिए अप्रामाण्य परतः कहा जाता है।

यदि ज्ञान की प्रमाणता इन्द्रियादि-गुण से और अप्रमाणता इन्द्रियादि-दोष से ही उत्पन्न होती, तब तो गुण से रहित आरोपित दोष से युक्त इन्द्रियादि द्वारा उत्पन्न 'पीतः शङ्खः' यह ज्ञान सर्वथा ही मिथ्या होता। लोक में स्पष्ट ही है कि 'पीतः शङ्खः' इस ज्ञान में भी शंखांश ज्ञान में सत्य है, मिथ्या केवल पीलापन का ही ज्ञान है। यह बात तभी संगत हो सकती है, जब ज्ञान की अप्रमाणता दोष के अधीन हो। अर्थात् दोषजन्य ज्ञान अप्रमाण हो और इन्द्रियादि कारण के अधीन ज्ञान की प्रमाणता हो; क्योंकि इन्द्रिय और दोष-सम्मेलन से जहाँ 'पीतः शङ्खः' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न

होगा, वहाँ पित्तदोष और इन्द्रिय दोनों की ही कारणता होगी, अतः उस ज्ञान के एक अंश में सत्यता और दूसरे अंश में असत्यता ही उत्पन्न हो सकेगी।

अतः ज्ञानों के कारणभूत इन्द्रियादिकों से उनमें (ज्ञानों में) यथार्थतारूप सत्यता उत्पन्न होती है, ज्ञान की यथार्थतारूप प्रमाणता उसी ज्ञान से नहीं जानी जा सकती। इसलिए ज्ञान से ही ज्ञान की प्रमाणता जानी जा सकती है, यह पक्ष सङ्गत नहीं है। ज्ञान केवल अपने विषय का प्रकाश करता है। जब वह सिवा विषय के अपना भी प्रकाश नहीं करता, तब अपने में रहनेवाली प्रमाणता को कैसे प्रकाशित कर सकेगा? अतः कारणभूत दोषों से अप्रमाणता ही ज्ञान का परतः अप्रामाण्य है। इस तरह स्पष्ट है जब वेद का कर्ता सिद्ध नहीं है, तब वेदों में कारणदोष की शंका नहीं हो सकती। इसीलिए वेदों में अयथार्थतारूप अप्रमाणता का सन्देह भी नहीं उठ सकता। इस प्रकार वेद की प्रमाणता स्वतःसिद्ध है।

दूसरे महानुभाव 'अज्ञात एवं सत्य पदार्थों के बोधक ज्ञान को प्रमाण-ज्ञान' कहते हैं। तथा च अनधिगत एवं अबाधित पदार्थों की बोधकता ही ज्ञान की प्रमाणता है और इस प्रकार की प्रमाणता उन ज्ञानों से ही विदित होती है। इस सिद्धान्त में स्वतःप्रामाण्य के 'स्व' शब्द से आत्मा अर्थात् ज्ञान ही गृहीत होता है। सत्य अर्थ का निश्चय ही प्रामाण्य है। यह सत्य अर्थ का निश्चय सिवा पदार्थज्ञान के कारण गुणज्ञान, संवादज्ञान, अर्थक्रियाज्ञानादि किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि उन सभी पक्षों में अनवस्था दोष अपरिहार्य होता है। एवं पदार्थ के मिथ्याज्ञान का निश्चय दोषज्ञान, अर्थबाध

या विषयवैपरीत्य के निश्चय से होता है। इसीलिए अप्रामाण्य परतः कहा जाता है। इस पक्ष में भी स्वतः (ज्ञान से) ही प्रामाण्य उत्पन्न होता है, न कि जाना जाता है।

इस विषय में कहना यही है कि यदि स्वतःप्रामाण्य-पक्ष में ज्ञान अपने प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण है, तब तो फिर परतः अप्रामाण्य-पक्ष में भी कारण दोषज्ञान तथा बाधकज्ञान को अप्रामाण्य की उत्पत्ति में ही कारण मानना चाहिए। परन्तु यह तब सम्भव होता, जब रजतादि मिथ्याज्ञान पहले प्रमाण (सत्य) होते और फिर 'नेदं रजतं शुक्तिरेव' इस बाधकज्ञान से अप्रमाण (मिथ्या) होते।

शुक्तिका में रजतज्ञान का अप्रामाण्य बाधकज्ञान से उत्पन्न नहीं समझा जाता, क्योंकि वह उत्पत्तिकाल से ही अप्रमाण रहता है। अयथार्थ निश्चय को ही अप्रमाण कहा जाता है। यह अप्रामाण्य तो अपने आप ही होता है, बाधक-ज्ञानादि किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता। यह हो ही नहीं सकता कि कोई ज्ञान उत्पन्न होकर तो प्रमाण रहा हो और बाधकज्ञान से अप्रमाण हो जाय। हाँ, यह तो सङ्गत है कि ज्ञान का अप्रामाण्य रहा तो ज्ञान की उत्पत्ति से ही; परन्तु उसका ज्ञान बाधक-ज्ञान से ही हुआ है। तथाच मिथ्याज्ञान था तो जन्म से ही अप्रमाण, परन्तु उसकी अप्रमाणता का निश्चय बाधकज्ञान से हुआ। अरजतभूत शुक्तिका का, रजतरूप में प्रकाशित करना ही शुक्ति-रजतज्ञान की अप्रमाणता है। वह तो जब से शुक्ति में रजत का ज्ञान हुआ, तभीसे है।

अतएव यह शङ्का भी निर्मूल है कि 'जब अर्थ के विपरीत होने का निश्चय ही अप्रामाण्य है, तब तो अवश्य ही उसकी

उत्पत्ति बाधकज्ञान से माननी पड़ेगी; क्योंकि अर्थवैपरीत्य का निश्चय ही अप्रामाण्य नहीं। किन्तु पूर्वज्ञान का अप्रामाण्य—उसके विषय का वैपरीत्य होना ही है, न कि वैपरीत्य का निश्चय अथवा विपरीत विषय की सत्यता का निश्चय करना।

इन दोनों प्रकार के अप्रामाण्यों में किसी भी प्रकार के अप्रामाण्य को अपनी उत्पत्ति में बाधक-ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि रजतरूप विषय का विपरीत होना तो 'नेदं रजतम्' इस बाधक-ज्ञान से पहले ही सिद्ध है और पहले से ही वह रजतज्ञान उस विपरीत विषय में सत्यता भी निश्चित करा देता है। इन्हीं सब हेतुओं से प्रामाण्य की तरह अप्रामाण्य की भी स्वतः उत्पत्ति माननी पड़ेगी। फिर यह भी कहना पड़ेगा कि ज्ञान की स्वतः उत्पन्न प्रमाणता को बाधक-ज्ञान नष्ट करता है। परन्तु यह कथन कथमपि ठीक नहीं; क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से अप्रमाणता तो मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति से ही सिद्ध है।

यह भी कहना युक्तियुक्त न होगा कि 'विषय की सत्यता का निश्चय कराना ही ज्ञान का प्रामाण्य है और उस निश्चय का मिट जाना ही अप्रामाण्य है। अतः अप्रामाण्य (विषय की सत्यता के निश्चय के नाश) में बाधक-ज्ञान की अपेक्षा है', क्योंकि निश्चय का नाश तो उसके त्रिक्षणावस्थायी होने से अपने आप हो जाता है। उसके लिए बाधक-ज्ञान की कुछ भी अपेक्षा नहीं होती और न बाधकज्ञान से निश्चय संस्कार ही नष्ट होते हैं।

इन सब कारणों से यही कहना उचित है कि ज्ञान की प्रमाणता (उसके विषय की सत्यता) स्वतः उसी ज्ञात से ज्ञात

होती है। ज्ञान की अप्रमाणता (उसके विषय का मिथ्यात्व) परतः (कारण-दोष और बाधक-बोध से) जानी जाती है।

यहाँ पर यह आक्षेप किया जाता है कि 'इस पक्ष में भी युक्तिविरोध है। विज्ञान जब अपने आपको ग्रहण नहीं कर सकता, तो वह अपने धर्मभूत प्रामाण्य का ग्रहण कैसे कर सकेगा; क्योंकि वह तो विषय के प्रकाशन में गतार्थ हो जाता है। इसलिए प्रामाण्य का जन्म ही स्वतः (अपने कारण से) होता है।' इसका समाधान यह है कि 'ज्ञान का प्रामाण्य उसीसे ज्ञात होता है' इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि 'मैं प्रमाण हूँ या मेरा प्रामाण्य है' इस प्रकार ज्ञान अपना या अपने प्रामाण्य का ग्रहण करता है। ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य पक्ष का यह आशय नहीं है कि ज्ञान में प्रामाण्य होता है, अपितु घटादि विषयों की सत्यता ही उनके ज्ञानों का प्रामाण्य है और विषयों की असत्यता ही (शुक्तिका में रजत का न होना ही) शुक्ति-रजतादि ज्ञानों की अप्रमाणता है। 'अयं घटः' इस प्रकार का जो सत्य ज्ञान है, वह घट की सत्यतारूप अपनी प्रमाणता का स्वयम् ही निश्चय कराता है। इसी आशय से स्वतःप्रामाण्य-निश्चय पक्ष की स्थिति होती है।

गुणज्ञान या ज्ञानान्तरसम्पत्ति किंवा अर्थक्रियाज्ञान से प्रामाण्य-निश्चय नहीं होता। विषय की असत्यतारूप अप्रमाणता रजतादि मिथ्याज्ञान से निश्चित नहीं होती। उलटे सत्य रजतज्ञान की भांति मिथ्या रजतज्ञान भी रजत की सत्यता को ही भासित करता हुआ-सा प्रतीत होता है। 'इदं रजतम्', इस ज्ञान से 'नेदं रजतम्' ऐसा निर्णय हो भी नहीं सकता। जो ज्ञान रजत का होना बतलाता है, उसीसे रजत का न होना कैसे

जाना जा सकता है? रजत का न होना ही रजत-ज्ञान का अप्रामाण्य है। रजत-ज्ञान का अप्रामाण्य रजत-ज्ञान से नहीं जाना जा सकता। अतः स्वतः अप्रामाण्य कहने का कोई भी प्रसङ्ग नहीं है। किन्तु मिथ्या रजत-ज्ञान के पश्चात् 'यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्तिका है' इस बाधकज्ञान से ही पूर्वज्ञान का अप्रामाण्य पुरोवर्ति का रजत न होना) निश्चित होता है। इसी कारण प्रामाण्य परतः कहा जाता है। भासमान अर्थ का वैसा ही होना उस ज्ञान का प्रामाण्य है और वैसा न होना ही उसका अप्रामाण्य है।

यहाँ यह शङ्का की जाती है कि 'यदि ज्ञान का उत्पत्ति के समय ही प्रामाण्य निश्चित हो जाता है, तब तो कारण-दोष और बाधक-ज्ञान के बिना ही ज्ञान का अप्रामाण्य भी उत्पत्ति से स्वतः ही क्यों न माना जाय? ऐसी स्थिति में प्रामाण्य का स्वतस्त्व और अप्रामाण्य का परतस्त्व पक्ष कैसे सङ्गत हो सकेगा?'

परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि स्वतःप्रामाण्य शब्द में स्वशब्द का अर्थप्रामाण्य हो, तब तो सारांश यह निकलेगा कि 'प्रामाण्य से ही प्रामाण्य, का निश्चय होता है।' परन्तु यह सर्वथा असङ्गत है। यदि स्वशब्द का अर्थप्रमाण होता, तब तो मिथ्याज्ञानों में प्रमाणता का निश्चय न होने से अप्रमाणता का निश्चय कर लिया जाता है। फिर तो जैसे प्रमाणता स्वतः होती है, वैसे ही अप्रमाणता भी स्वतः ही होती। परन्तु यहाँ स्व-शब्द का न प्रामाण्य ही अर्थ है और न प्रमाण ही।

ऐसी स्थिति में, अप्रमाण-ज्ञान भी प्रथम अपने विषय की सत्यतारूप प्रमाणता को सत्यज्ञान के समान ग्रहण करता है। परन्तु पीछे होनेवाले बाधक-ज्ञान से उसकी अप्रमाणता निश्चित

होती है। अतः अप्रामाण्य परतः है, जैसा कि भट्टपाद ने कहा है—

> "यस्मात् स्वतःप्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम्।
> बाधकारणदुष्टत्वबोधाभ्यां तदपोह्यते ॥"

यहाँ यह भी सन्देह किया जाता है कि 'यदि पदार्थों की सत्यता ही ज्ञानों का प्रामाण्य है, तब तो स्मरण-ज्ञान को भी प्रमाण कहा जा सकता है।' परन्तु इसका उत्तर यह है कि केवल पदार्थ की सत्यता ही प्रामाण्य नहीं है, जिस ज्ञान का विषय प्रथम से अज्ञात रहा हो, जिसका विषय सत्य हो और साथ ही जो ज्ञान पदार्थ की सत्यता का निर्णायक हो, उसी ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है। उसी प्रमाण के भाव को 'प्रामाण्य' कहा जाता है। तथाच (१) ज्ञात रूप से अनुसन्धान न होना, (२) पदार्थ का सत्य होना और (३) ज्ञान में उस सत्यता की निर्णायकता—ये तीन अंश सम्मिलित होकर प्रामाण्य होता है। इनमें पहले का बोध तो योग्यानुपलब्धि से ही होता है—'यदि यह पदार्थ प्रथम से ज्ञात होता, तो उसकी ज्ञातता ज्ञात होती; परन्तु इसकी ज्ञातता मुझे ज्ञात नहीं है, अतः यह पदार्थ मुझे पहले से ज्ञात नहीं है।' 'अयं घटः' यह ज्ञान तो घट का बोध कराता है, इससे घट की पूर्व अज्ञातता नहीं विदित होती; क्योंकि गुण के ज्ञान आदि से भी यह अज्ञातता नहीं समझी जाती। अतः विषय की इस प्राथमिक अज्ञातता के बोध में तो स्वतः या परतः इस चिन्ता का अवतार नहीं होता, क्योंकि इस प्रामाण्यांश के ज्ञानस्वरूप से बोध होने की शंका तक नहीं उठ सकती। किन्तु पदार्थों की सत्यतारूपी जो दूसरा प्रामाण्यांश है, वह स्वतः अर्थात् ज्ञानस्वरूप से ही सिद्ध होता है। अतः

यहीं स्वतस्त्व-परतस्त्व का विचार किया गया है। इस स्वतः-प्रामाण्यविचार से 'वैदिकवाक्यों से मिथ्या अर्थ का ही बोध क्यों न माना जाय', इस शंका का समाधान हो जायगा; क्योंकि उस विचार से यह निश्चित हो जाता है कि पदार्थों का यथार्थतारूप प्रामाण्य उसी ज्ञान से निश्चित होता है।

अतः वैदिक विधिवाक्यजनित तदर्थ-ज्ञान की प्रमाणता स्वतः है, अतः उनका अर्थ मिथ्या नहीं। जो ज्ञान अर्थ की सत्यता का निश्चय करायेगा, वही उस अर्थ के निश्चय का कारण होगा; क्योंकि जो ज्ञेय का ज्ञापक होता है, वहीं ज्ञान का जनक होता है। इसी तरह अर्थनिश्चय भी प्रामाण्य का अंश है। ये तीनों ही प्रमाणबुद्धि के विषय होते हैं। इनमें निश्चयरूप प्रामाण्य की उत्पत्ति मानने में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसे ही संवादज्ञानादि का कार्य कहते हों, तो भी कोई विरोध न होगा, क्योंकि 'प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है', यह सिद्धान्त का पक्ष नहीं है, केवल द्वितीय प्रामाण्यांश को लेकर यह कहा जाता है कि प्रामाण्य स्वतः ज्ञात होता है।

यहाँ यह शङ्का उठायी जाती है कि 'जब सर्प तथा रज्जु दोनों में ही सर्पज्ञान होता है, तब सर्पज्ञान से सर्प का निश्चय कैसे किया जा सकता है? जब अर्थक्रिया-दर्शन से ही विषय का निश्चय होता है, तभी यह भी जाना जा सकता है कि सर्पज्ञान सर्प से ही उत्पन्न हुआ था, अन्य से नहीं। अर्थक्रिया का ज्ञान अपने विषय में सत्य ही होता है। इसलिए वही पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करा सकता है।

'इसी भाँति उत्तरोत्तर होनेवाले अनेक ज्ञानों के साथ मेल मिलने से (संवाद से) भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य होता है,

क्योंकि जो अर्थ मिथ्या होता है, पुनः-पुनः उसका वैसा ही ज्ञान होना सम्भव नहीं है। अतः पुनः-पुनः होनेवाले उत्तरोत्तर ज्ञानों से भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य (विषय-सत्यता) निश्चित होता है। गुणयुक्त कारणसे जन्य ज्ञान यथार्थ होता है, अतः कारण गुण निश्चय भी ज्ञान के प्रामाण्य का मूल हो सकता है। एवं विषय के सत्यत्वलक्षण प्रामाण्य का परतः होना भी ठीक है। स्वतः अर्थ-तथात्व (विषय का यथार्थत्व) लक्षण प्रामाण्य नहीं हो सकता। अनिश्चित अर्थ में ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य किसी प्रकार भी बन नहीं सकता।

'निश्चयाभाव की उत्पत्ति के लिए तो दोषज्ञानादि किसी भी सामग्री की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि अभाव कोई वस्तु नहीं है और निश्चय तो वस्तु है। अतः वह गुणज्ञानादि से उत्पन्न हो सकता है। इसलिए उसका परतः होना ही सङ्गत है।'

इन उपर्युक्त शंकाओं का समाधान यह है कि सिद्धान्ती का यह आशय नहीं कि सभी ज्ञान अव्यभिचारी होते हैं, इसलिए उनका प्रामाण्य होता है। अपितु ज्ञानों का स्वतःप्रामाण्य होता है। यदि ज्ञान स्वयं अपने विषय का निश्चय न करायें, तब तो किसी दूसरे जड़ पदार्थ में निश्चय कराने की सामर्थ्य है ही नहीं। फिर तो जगत् में निश्चय का अत्यन्त अभाव होने के कारण अशेष जगत् में अन्धता ही हो जायगी। जो विषय अपने ज्ञान से निश्चित नहीं; वह दूसरे से भी कैसे निश्चित हो सकता है? जो अर्थक्रिया-ज्ञान से प्रामाण्य कहा जाता है, वह भी असंगत है; क्योंकि जैसे सर्प न होने पर भी सर्पज्ञान होता है, वैसे ही अर्थक्रिया न होने पर भी अर्थ-क्रियाज्ञान स्वप्न में होता है। फिर तो अर्थक्रियाज्ञान का ही

प्रामाण्य न हुआ, तो अर्थक्रियाज्ञान से घटादिज्ञान का प्रामाण्य कैसे निश्चित होगा?

कुछ लोगों का कहना है कि 'यद्यपि जलानयन-क्रयविक्रयादि अर्थक्रिया के बिना भी स्वप्न में इन सबका ज्ञान होता है, तथापि अर्थक्रिया से यह सब कुछ विवक्षित ही नहीं है। सुख-दुःख का ज्ञान ही अर्थक्रिया है, वह कभी भी व्यभिचारी नहीं होता। सुख-दुःखज्ञान अपनी सत्ता में स्वतः ही प्रमाण है, क्योंकि बिना सुखादि के सुखादिज्ञान कभी होता ही नहीं। अतः वह अव्यभिचारी है। परन्तु ऐसे अर्थक्रिया-निश्चय से दूसरे ज्ञान की प्रमाणता की आशा बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि स्वप्नके मिथ्या चन्दन-विलेपनादि द्वारा भी सुख की उत्पत्ति होती है। यहाँ सुख-ज्ञान की प्रमाणता से चन्दन-विलेपनज्ञान की प्रमाणता कथमपि सिद्ध नहीं होती।

इसके सिवा अर्थक्रिया के निश्चयसे पूर्वज्ञान के विषय का निश्चय करना ही एक प्रकार का कार्य से कारण का अनुमान हुआ। जैसे धूम में अग्नि के सम्बन्धज्ञान से अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही अर्थक्रिया में पूर्वज्ञान के विषय के सम्बन्ध-ज्ञान द्वारा उसकी सत्यता का अनुमान करना पड़ेगा। परन्तु बिना सम्बन्धि का ग्रहण हुए सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः सम्बन्ध-ग्रहण के समय ही अवश्य घटज्ञान से ही घटनिश्चय करना पड़ेगा। तथाच अनुमान से पहले ही घटज्ञान से घट-निश्चय मानना पड़ेगा।

ऐसे ही गुणज्ञान तथा सम्बन्धज्ञान के विषय में भी कहा जा सकता है कि जब घटादिज्ञान से घटादि का निश्चय नहीं हुआ, तब ज्ञान से गुण का निश्चय कैसे कहा जा सकता है? इसी तरह

गुणज्ञान जबतक अपने विषयभूत गुण का निश्चय नहीं कर लेगा, तबतक उस गुणज्ञान से पूर्वज्ञान के विषय की सत्यता कैसे निश्चित हो सकती है ?

इसी तरह एक ही विषय के अनेक क्रमिक ज्ञानों में द्वितीयादि ज्ञानों को संवाद कहा जाता है। यहाँ सोचना यह चाहिए कि पूर्वज्ञान से इस ज्ञान में क्या विशेषता है, जिससे पूर्वज्ञान से अनिश्चित अर्थ का इस ज्ञान से निश्चय होगा। निश्चय एक वस्तु है और वह जन्य है, तथापि वह उसी ज्ञान से उत्पन्न होता है, अन्य किसीसे नहीं। इसलिए प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य दोषज्ञान या बाधक-ज्ञान से, अतएव परतः ही निश्चित होता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'जब अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव है, अर्थात् अवस्तु रूप है, तब वह दोषजन्य भी कैसे कहा जा सकता है ?' इसका समाधान यही है कि यद्यपि प्रामाण्य के अभावरूप अप्रामाण्य का निश्चय दोषों से नहीं होता, अपितु अर्थ-मिथ्यात्वरूप अप्रामाण्य दोषज्ञान से निश्चित होता है। क्योंकि कारण के दुष्ट होने से ही विषय का असत्यत्वरूप अप्रामाण्य देखा जाता है। अतः उसे दोषजन्य ही समझना चाहिए। अन्य प्रमाणों के समान वेदों में भी प्रामाण्य स्वतः है और अपौरुषेय होने से उनमें किसी प्रकार कारण-दोष सम्भव ही नहीं है। अतः वह ज्यों का त्यों स्थित है, उसका अपोहन नहीं होता।

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि 'अप्रामाण्य दोष से होता है या गुणाभाव से, क्योंकि सर्वत्र ही गुणरहित, दोषयुक्त कारणों से ही अयथार्थता जानी जाती है। फिर उसमें दोष ही निमित्त है, गुणाभाव नहीं, यह विवेक कैसे हो सकता है ? इसलिए चाहे अप्रामाण्य परतः ही हो, तब भी गुणाभाव से वेदों में अप्रामाण्य

आ जायगा। वेदों में भी आप्तप्रणीतत्वरूप न गुण होने के कारण गुणाभाव से उनका परतः अप्रामाण्य हो जायगा।' इसका उत्तर यह है कि समस्त कल्पनाएँ दृष्ट के अनुसार ही हुआ करती हैं। जब वेद का स्वतःप्रामाण्य मान लिया गया, तो उसके अनुसार ही अप्रामाण्य के हेतु की कल्पना करनी चाहिए। यद्यपि शुक्ति-रजतादि ज्ञानों में गुणाभाव और दोष दोनों ही दिखायी देते हैं, तथापि वेद में आप्तप्रणीतत्वरूप गुण के न होने पर भी प्रामाण्य दृष्ट ही है। अतः यदि गुणाभाव को अप्रामाण्य का प्रयोजक कल्पित किया जाय, तो वेदों के दृष्ट स्वतःप्रामाण्य का अवश्य बाध होगा। अतः यह कल्पना दृष्ट-विरुद्ध है।

इसलिए सर्वत्र ही मिथ्याज्ञानों की असत्यता का कारण दोष ही है, गुणाभाव नहीं। यदि गुणाभाव सर्वत्र ही मिथ्याज्ञानों में रहता है, इतने से ही उसे अप्रामाण्य का कारण मान लिया जाय, तब ज्ञानत्व भी सर्वत्र रहता है, तो उसे ही क्यों न अ-प्रमाणता का प्रयोजक माना जाय? इस पर यदि यह कहा जाय कि 'प्रत्यक्षादि यथार्थ-ज्ञानों में भी ज्ञानत्व रहता है, अतः वह अप्रामाण्य का निमित्त नहीं कहा जा सकता',—तब तो यह भी कहा जा सकता है कि गुणाभाव भी यथार्थ प्रमाणभूत वेदों में रहता है, अतः वह अयथार्थत्व का कारण नहीं है।

यदि कहा जाय कि 'वेद की सत्यता तो अभी सिद्ध ही नहीं, तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षादि की ही यथार्थता कैसे सिद्ध है? यदि कहें कि 'उनकी यथार्थता (प्रमाणता) तो स्वतः है', तो यह कहा जा सकता है कि वह स्वतःप्रमाणता वेद में भी स्वतःसिद्ध है। सिवा नास्तिकवाद के और कोई युक्ति नहीं,

जिससे वेद की प्रमाणता में बाधा पड़े। इसलिए गुणाभाव-मूलक अप्रामाण्य नहीं कहा जा सकता।

हाँ, यदि ज्ञानों की सत्यता में गुणों की कारणता होती, तब तो यह कहा जा सकता था कि शुक्तिरजतादि-ज्ञानों के असत्य-स्वरूप अप्रामाण्य में गुणाभाव कारण है। परन्तु जब ज्ञानों के सत्यत्वरूप प्रामाण्य में गुण को कारण ही नहीं माना जाता, तब ऐसा कहने का अवसर ही कहाँ है?

यदि सत्यत्वरूप प्रामाण्य में गुण को कारण मान लिया जाता, तब तो फिर शुक्तिरजतादि-ज्ञान में प्रकाशयुक्त शुक्तिरूप की प्रतीति कथमपि न बन सकती, क्योंकि वहाँ कारण गुण है ही नहीं। यदि वहाँ भी गुण मान लिया जाय, तब तो फिर शुक्तिरजत-ज्ञान की अप्रमाणता सिद्ध नहीं होगी।

यदि ज्ञानों की स्वकारण से ही यथार्थता और दोष से अयथार्थता मान ली जाती है, तब तो शुक्तिरजतादि मिथ्या-ज्ञान अपने कारण के अनुसार पुरोवर्ती एवं तद्गत भास्वर शुक्लत्वादि सत्य पदार्थों तथा दोष के अनुसार रजतादिरूप असत्य पदार्थों को ग्रहण कर सकते हैं। अतः ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है। इसी प्रकार वेद-जनित ज्ञानों का भी स्वतःप्रामाण्य ही हुआ। उसका अपोहन भी नहीं होता, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, अतः वहाँ कारण-दोष संभावित नहीं। नेत्र, श्रोत्र आदि प्रमाणों में प्रमाता के भ्रम तथा करणों के अपाटव आदि दोष हो सकते हैं। वेद का कोई रचयिता नहीं है; अतः भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोष वहाँ सुलभ नहीं हैं। इस प्रकार वेदरूप प्रमाण में कोई दोष है ही नहीं। वेदार्थ-ज्ञान का

बाधक ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि जब स्वर्ग, ब्रह्मादि वेदातिरिक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विषय नहीं हैं, तो फिर उनका बाध या अभाव भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञेय कैसे हो सकता है ? अतः वेदमात्र से बोधित होनेवाले पदार्थों का बाध या अभाव भी प्रत्यक्ष आदि से नहीं जाना जा सकता। अतएव वेदों का प्रामाण्य अनपोहित ही रहता है।

कहा जाता है कि 'द्रव्य, गुण, क्रिया आदि ही धर्म हैं और द्रव्यादि प्रत्यक्ष-गम्य हैं ही। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि धर्म अतीन्द्रिय है; वह केवल वेद से ही जाना जा सकता है, अन्य प्रमाण से नहीं।' पर विचार करने पर उक्त तर्क निस्सार जान पड़ेगा। जैसे स्त्री एक ही पदार्थ है, पर वह मनुष्यत्व जाति की दृष्टि से मनुष्य कहलाती है और अपने असाधारण चिह्नों से स्त्री कही जाती है, वह विवाहादि संस्कार के पश्चात् पति की पत्नी कही जाती है; इसी तरह द्रव्य, क्रिया आदि में भी एक उनका लौकिक रूप होता है, तो दूसरा स्वर्गादि-साधनरूप। असल में इसी दूसरी विशेषता के कारण द्रव्य, क्रिया आदि को धर्म कहा जाता है। पहला द्रव्य आदि का आकार प्रत्यक्ष-गम्य है—ऐन्द्रियक है, तो दूसरा रूप अतीन्द्रिय है—एकमात्र शास्त्रवेद्य है। अतः द्रव्य, क्रिया आदि लौकिक रूप से धर्म नहीं कहे जाते, किन्तु स्वर्ग-साधनत्वरूप धर्म से ही धर्म कहे जाते हैं, जिसका ज्ञान एकमात्र शास्त्र से ही हो सकता है। कहा भी है—

"श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ॥"

फिर भी कहा जाता है "कि धर्म-अधर्म का विवेक तो लोक

में प्रसिद्ध ही है। व्यास का कहना है कि उपकार पुण्य है, और अपकार पाप, यह सभी जानते हैं। श्लोक वार्तिक में कहा है—

"इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचाण्डालं मनुष्याणा मल्पं शास्त्रप्रयोजनम्॥"

वापी, कूप, तड़ाग आदि का निर्माण पुण्य है, गृहदाह और वित्त, स्त्री आदि का हरण पाप है। अतः पुण्य, पाप बतलाना शास्त्र का लघुप्रयोजन है। अष्टादश पुराणों में व्यास ने दो ही बातें कही हैं, (१) परोपकार पुण्य है और (२) परपीडन पाप।

"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
धर्मः परोपकरणमधर्मः परपीडनम्॥"

इस तरह फिर धर्माधर्म तो अन्य स्रोतों से भी ज्ञात होते हैं। अतः यह कहा जाना कि वे केवल वेद-गम्य हैं, कहाँतक ठीक है?"

समाधान यह है कि प्रसिद्धि का कुछ न कुछ मूल होता है— "न ह्यमूला प्रसिद्धिः।" जो प्रसिद्धि अमूल होती है, वह अन्ध-परम्परा के समान अप्रमाण ही होगी। अतः उक्त धर्माधर्म की प्रसिद्धि का कोई न कोई मूल अवश्य बताना पड़ेगा। धर्माधर्म अतीन्द्रिय हैं, अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाण उस-उस प्रसिद्धि के मूल नहीं हो सकते। फलतः यह कहना पड़ेगा कि धर्माधर्मादि प्रसिद्धि का मूल अनादि वैदिक विधि-निषेध ही हैं। कोई सादि पौरुषेय ग्रन्थ इस अनादि प्रसिद्धि के मूल नहीं हो सकते। बिना मूल प्रमाण के, केवल प्रसिद्धि के बल पर धर्माधर्म का का निर्णय हो भी नहीं सकता। कारण यह है कि ये प्रसिद्धियाँ परस्पर विरुद्ध भी तो हैं। कई संसारमोचकादि विशेष हिंसा

को पुण्य कहते हैं, क्योंकि मृत्यु के अनन्तर जीव दुःखों से छुटकारा पा जाता है। अन्य लोग हिंसा को पाप मान लेते हैं। आर्यों एवं अनार्यों की प्रसिद्धियाँ भी परस्पर विरुद्ध हैं। वैदिक विधियाँ तो पूर्वोक्त प्रकार से निष्पन्न रूप में धर्माधर्म का बोध कराती हैं। यद्यपि धर्माधर्म की पुरानी प्रसिद्धि उपकार, अपकार आदि विषयों में कथञ्चित् प्रमाण हो सकती है; तथापि अग्निहोत्र, सुरापान आदि के संबंध में प्रसिद्धि गूँगी एवं अंधी ही हो जाती है। कई स्थानों में सुरापान आदि को पाप समझा ही नहीं जाता। उपकार, अपकार आदि के संबंध में भी प्रमाणान्वेषक परीक्षकों को तो शास्त्र का प्रयोजन है ही। हाँ, सामान्य लोग प्रसिद्धिमात्र से भी काम चला लेते हैं। इसीलिए व्यास ने कहा है कि शास्त्र का कम प्रयोजन होता है, परन्तु ऐसा कम नहीं कि शास्त्र का प्रयोजन ही नहीं होता। अग्निहोत्र, सुरापान आदि के धर्मत्वादि का निर्णय सर्वथा शास्त्र-सापेक्ष ही होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'हिंसा आदि का अधर्म होना अनुमान से जाना जा सकता है। जिसकी हिंसा की जाती है, उसको दुःख देखकर अनुमान किया जा सकता है कि हिंसा से हिंसक को कालान्तर में अवश्य दुःख होगा। परन्तु यह कोई व्याप्ति नहीं है कि 'जो दूसरों को दुःख देता है, वह कालान्तर में दुःख पाता है।' फिर व्याप्ति-निरपेक्ष अनुमान होगा कैसे? उलटे यह कहा जा सकता है कि वधकाल में हिंसक को सुख होता है, अतः कालान्तर में भी सुख ही होगा।

फिर भी कहा जा सकता है कि 'जो क्रिया वर्तमान समय में अपने विषयरूपी पदार्थ में जैसा फल उत्पन्न करती हो, वह क्रिया कालान्तर में कर्ता में भी वैसा ही फल उत्पन्न करती है। उदाहर-

णार्थ, दानक्रिया वर्तमान समय में ग्रहीता में सुख उत्पन्न करती है, तो हिंसा वर्तमान समय में हिंस्यमान प्राणी में दुःख उत्पन्न करती है। अतः कालान्तर में वे दाता में सुख एवं हिंसक में दुःख उत्पन्न करेंगी। इस तरह अनुमान द्वारा धर्माधर्म का निर्णय हो सकता है। सुखजनक क्रिया धर्म है और दुःखजनक क्रिया अधर्म। अतः अनुमान भी धर्माधर्म में प्रमाण ही है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि वेद ही धर्माधर्म में प्रमाण है, अन्य नहीं ?'

किन्तु उपर्युक्त तर्क विचार करने पर खरा नहीं उतरता। स्पष्ट है कि गुरुपत्नी-गमन क्रिया उस क्षण में गुरुपत्नी को सुख देती है, फिर भी कालान्तर में कर्ता को सुखप्रद नहीं होती; इसके विपरीत दुःखप्रद ही होती है। इसी प्रकार मनुष्यमात्र मातृ-गमन आदि को अतिपाप मानते हैं। शास्त्रों में भी इसे अति-पातक और महापातक कहा गया है। सुरापान आदि क्रियाएँ भी स्वविषय जड़ सुरादि में दुःख नहीं पैदा करतीं है, तो भी पान करनेवालों को कालान्तर में महादुःख देती हैं। इस तरह 'अपने-अपने विषयमें दुःखजनक क्रिया भी कर्ता में दुःख का जनन करती हैं, यह व्याप्ति व्यभिचरित है। अतः इस प्रकार भी उक्त अनुमान दूषित है।

इसी प्रकार दान प्राप्त करनेवाले ग्राहक को कभी औदा-सीन्य ही प्राप्त होता है, तो फिर दानक्रिया से कर्ता को भी औदासीन्य ही फल मिलेगा। ऐसी स्थिति में दान-क्रियाओं से सुख ही होता है, यह नहीं कहा जा सकता। अतः 'दाना-दि क्रियाओं से कालान्तर में सुख ही होता है' यह वैदिक वाक्यों से ही विदित होता है। इतना ही क्यों, दानक्रिया से लेनेवाले को

जितना सुख होता है, उससे सहस्रों एवं अनन्त गुणित सुख दानी को होता है—धर्मशास्त्रों में यह स्पष्ट ही कहा गया है। यह सब अनुमान से ही जाना जाय, यह असम्भव है। कारण यह है कि दृष्टान्त में जिसके साथ हेतु में व्याप्ति गृहीत होती है, वही पक्ष में साध्य होता है। जैसे—महानस में वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति गृहीत होती है, अतः अनुमान से धूम द्वारा पर्वत में वह्नि का अनुमान किया जाता है। प्रकृत में दृष्टान्तगत 'सम्प्रदान-तुल्य फलकत्व' दृष्ट है, अर्थात् जिसको दान किया जाता है, उसके समान ही दाता को फल मिलता है—यह देखा गया है। परन्तु वैदिक विधि-गम्य दान में तो कर्मकारक के अनुसार फल होता है। सुवर्ण आदि जैसी वस्तु का दान होता है, तदनुसार फलों में भेद होता है। अब्राह्मण, ब्राह्मण-ब्रुव ब्राह्मण, वेदपारग आदि संप्रदानों के भेदों से भी फलभेद होता है—यह वैषम्य है। यदि कहा जाय कि पक्ष में भी दृष्टान्त के तुल्य ही संप्रदानतुल्य फलकत्व की कल्पना की जायगी, तो वह भी ठीक नहीं। कारण यह है कि सम्प्रदान के तुल्य ही प्रकृत में भी प्रीति-साधन हो, तब तो शास्त्र-विरोध होगा। दृष्टान्त में दान-कर्म हिरण्य आदि स्वरूप से कोई भी फलजनन नहीं कर सकता। इसलिए उसके अनुसार फल कल्पना सम्भव भी नहीं हो सकती। वेदवाक्यों के अनुसार अग्निष्टोम आदि यज्ञों में पशुहिंसा विहित होने से जप आदि के तुल्य कालान्तर में यज्ञ भी कर्ता के लिए सुखदायक है, परन्तु अनुमान से यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता। सुरा-पान आदि वर्तमान में किसीको दुःख नहीं पहुँचाते, अतः वे कालान्तर में दुःखद होने चाहिए—यह अनुमान से सिद्ध नहीं होता। इसी तरह जपादि भी वर्तमान में किसीको सुख नहीं पहुँचाते, अतः कालान्तर में कर्ता को सुख न दे सकेंगे। प्रत्युत श्रमरूप

होने से जपादि कर्ता को दुःख ही पहुँचाते हैं। अतः वे सुख न पहुँचा सकेंगे—उनसे कालान्तर में कष्ट ही होगा। सारांश यह कि उक्त अनुमान धर्माधर्म-साधन में असमर्थ है। जप, सुरापान आदि में धर्मता या अधर्मता के निर्णय के लिए सिवा वेद-वाक्य के और कोई भी प्रमाण नहीं हो सकता। अतः सर्वत्र वैदिक विधि-निषेध से ही धर्माधर्म का निर्णय उचित है।

मातृ-गमन आदि करनेवाला माता आदि को सुख पहुँचाता है, अतः उपकारक होने से धार्मिक ही कहा जाना चाहिए। इसी तरह जैसे आत्मघातरूप अपकार करनेवाला व्यक्ति पातकी कहा जाता है। इसी तरह कामान्ध प्राणी माता आदि में गमन द्वारा माता आदि का और अपना भी उपकार करता है, इसलिए भी वह पुण्यात्मा कहा जाना चाहिए।

यदि कहा जाय कि 'मातृ-गमनादिरूप कर्म से चाण्डाल को भी घृणा होती है, अतः घृणारूपी आत्मापकार होने से उसके द्वारा पाप ही होता है।' पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि पाप-निर्णय होने पर ही तो घृणा हो सकती है। यदि पाप होने का निर्णय ही न हो, तो उस कर्म से घृणा भी क्यों होगी? दृष्ट पीड़ा हो, तो पाप का निर्णय हो सकता है और तभी घृणा की बात उठ सकती है। अतः शास्त्र-निरपेक्ष होकर धर्माधर्म का निर्णय असंभव है।

आचार्य का शिष्य को ताड़न करना अपकारवत् प्रतीत होने पर भी अपकार नहीं है। इसी प्रकार गुरुदार-गमन उपकार की तरह जान पड़ने पर भी उपकार नहीं है। पर्पटी के सेवनकाल में रोगी को जल की अत्यन्त इच्छा होती है। जल दे देना उसका उपकार प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः वह एक आयुर्वेदज्ञ की

दृष्टि से अपकार ही होगा। इस तरह उपकार-अपकार का भी वास्तविक निर्णय शास्त्र से ही हो सकता है।

कुछ लोग आत्म-प्रेरणा या इलहाम से धर्माधर्म का निर्णय करते हैं। परन्तु वह भी असंगत है। प्राणी को जैसी आदत होती है, उसी ढंग की उसे आत्मप्रेरणा होती है। एक अहिंसक को अहिंसा की ही आत्मप्रेरणा होती है, परन्तु एक हिंसक को ठीक इसके विपरीत आत्मप्रेरणा होती है। इस तरह लौकिक हित-अहित के निर्णय में भी प्राणी को नीति-शास्त्र एवं चिकित्साशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। स्वयं अपनी बुद्धि से हिताहित का निर्णय और ढंग का होता है, परन्तु नीति-शास्त्र एवं चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से हिताहित-निर्णय दूसरे ढंग का होता है। फिर तो धर्माधर्म के संबंध में तो स्पष्ट ही प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न अपौरुषेय वेद को ही प्रमाण मानना चाहिए। प्रत्यक्ष एवं अनुमान से अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होना ही वेदों की वेदता है। कहा भी है—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एवं विन्दति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥"

मंत्र-ब्राह्मण-समुदाय ही वेद है—"मंत्रब्राह्मणयोर्नामधेयं वेदः।"

वेद स्वरूप—कात्यायन एवं आपस्तम्ब आदि के सूत्र हैं—"शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सति आमुष्मिकसुखजनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वं वेदत्वम्।" अर्थात् जो शब्द एवं शब्दमूलक अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से भिन्न प्रमाण से जनित प्रमितियों का विषय न बने, जिसके उच्चारण से पारलौकिक सुख उत्पन्न होता

हो और जो अनित्य ज्ञान से अनुत्पन्न हो—ऐसा प्रामाणिक शब्द ही वेद है। निष्कर्ष यह है कि शब्द एवं शब्द-मूलक अर्थापत्ति प्रमाण के ही द्वारा जिसके अर्थ या अर्थांश का बोध होता है तथा जिसके पठन से पारलौकिक सुख प्राप्त होता है और जो जीव-प्रणीत न हो, वह प्रमाणभूत शब्द-राशि वेद है। इस प्रकार भारत एवं आयुर्वेद आदि, जो प्रत्यक्षादि-मूलक एवं जीवकर्तृक हैं, उनमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी तरह वेदों के खण्डों के पाठ से पारलौकिक सुख की प्राप्ति नहीं होती, अतः उनमें भी वेदत्व नहीं। जो वेद-भाग दृष्टार्थ होते हैं, उनमें भी वेदत्व की प्राप्ति नहीं होती; परन्तु उसका तात्पर्यार्थ विधि-स्तुति होता है। विध्यर्थ प्रमाणान्तर से गृहीत नहीं हो सकता। शब्दपद के संनिवेश का यह महत्त्व है कि नैयायिकों का वह मन, जो नित्य होने के कारण अजन्य है और प्रमाण है, वेद न कह दिया जाय। यही अपौरुषेय वाक्य-राशि वेद है। बौद्ध आदि आगमों में वेदत्व नहीं है और न धर्म में उनका प्रामाण्य ही है।

पौरुषेय ग्रन्थों में भ्रम आदि दूषण संभावित होते ही गीतादि का प्रामाण्य इसलिए कहा जा सकता है कि वे सब श्रुतिमूलक हैं। उपनिषद्रूप गौओं से गोपालनन्दन कृष्ण ने पार्थरूपी बछड़े के लिए जो दुग्ध निकाला है, वही गीतामृत है। भिन्न-भिन्न अपभ्रंश, अरबी, हिब्रू, जेन्द, इङ्गलिश आदि भाषामय ग्रंथों का भी वेदत्व एवं प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि वे अपभ्रंश-शब्द-जन्य ही हैं, अजन्य नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वे सकर्तृक भी हैं। उन-उन ग्रंथों के कर्ताओं का देश, काल आदि प्रमाणसिद्ध हैं। भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक मूलग्रंथों के कर्ताओं की स्मृति उनके अनुयायियों में प्रसिद्ध है। किन्तु वेद जैसे महत्त्वपूर्ण एवं

प्रसिद्ध ग्रंथ के कर्ता की, स्मरण योग्य होने पर भी, स्मृति न होना उसकी अपौरुषेयता का द्योतक है। जो पाणिनि को नहीं जानते, वे पाणिनि की वृद्धि आदि संज्ञाओं को भी नहीं जानते। जो वृद्धि आदि संज्ञा को जानते हैं, उन्हें संज्ञा-निर्माता का भी ज्ञान होता ही है। अतएव चिरकालीन होने कारण भी वेद-कर्ता का विस्मरण होना संभव नहीं है। वेद के अनुसार करोड़ों व्यक्ति आज भी वर्णाश्रमानुसारी धर्म, उपासना तथा तत्त्वज्ञान की साधना मे संलग्न हैं। यदि वेद किसी पुरुष के बनाये हुए होते, तो उसके कर्तृत्व एवं आप्तत्व के ज्ञान से ही लोगों की वेदार्थानुष्ठान में प्रवृत्ति होती, क्योंकि लोक में ऐसा ही देखा जाता है। किसी लौकिक, परलौकिक इष्टप्राप्ति, अनिष्टपरिहार के उपायनिर्देशक ग्रन्थ के अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति तभी होती है, जबकि उस ग्रन्थ के आप्त कर्ता का ज्ञान होता है। विना आप्त कर्ताका ज्ञान हुए किसी ग्रन्थ के उपदेशानुसार प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः वेद-भी यदि पौरुपेय होते, तो उस पुरुष के कर्तृत्व, आप्तत्व तथा देश काल का बोध होने से ही प्रेक्षावानों की वेद के अध्ययन, अध्यापन एवं तदर्थानुष्ठान में प्रवृत्ति होती। परन्तु ऐसा नहीं है, वेद के अध्ययनाध्यापन एवं तदर्थानुष्ठान में वशिष्ठ, वामदेव जैसे सर्वज्ञ कर्ताओं की भी प्रवृत्ति है। वशिष्ठ, वामदेव जैसे सर्वज्ञकल्पों की प्रवृत्ति है। परन्तु वेद के कर्ताका ज्ञान किसीको नहीं है। अतः विदित होता है कि वेद अपौरुषेय ही हैं। अपौरुषेय तथा स्वतः-प्रमाण होने से ही प्रेक्षावानों की उसमें प्रवृत्ति है।

यहाँ यह प्रश्न व्यर्थ है कि 'वेद का कर्ता किसी एक को स्मृत नहीं है या सबको स्मृत नहीं है? एक को स्मृत न होने से तो अनेक पौरुपेय ग्रन्थों में भी अपौरुषेयता आ जायगी। सबको स्मृत न होना तो हम जैसे असर्वज्ञ जान ही कैसे सकते हैं? कारण

इस तरह तो किसी भी अभाव-ज्ञान में यही विप्रतिपत्ति खड़ी की जा सकती है। फिर तो सप्तम रसाभाव भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रश्न होगा कि सप्तम रस एक को अज्ञात है या सबको ? पहला पक्ष मानने पर किसी भी सद् वस्तु का अभाव सिद्ध किया जा सकता है और सर्व के अज्ञान का पता एक असर्वज्ञ को हो नहीं सकता। पर क्या इस तर्क से सप्तम रस का सद्भाव माना जा सकता है ? यदि अनन्त विद्याओं के उद्गम-स्थान व्यास, वशिष्ठ जैसे विशिष्ट लोगों के भी शिरोधार्य परमप्रख्यात वेद किसीके द्वारा प्रणीत होते, तो उस कर्ता का स्मरण अवश्य होता। पर क्या कहीं भी उसकी स्मृति है ? कदाचित् कहीं नहीं। प्रत्युत—"वाचा विरूप-नित्यया, अनादि निधना नित्या" आदि वचनों से वेदों की नित्यता ही सिद्ध होती है।

"वेदाः पौरुषेयाः, वाक्यत्वात्, भारतादिवत्" यह अनुमान भी सोपाधिक होने से दूषित है। यहाँ उपाधि है—स्मर्यमाण-कर्तृकत्व। यह उपाधि महाभारत आदि में विद्यमान है, जब कि वेद-वाक्यों में वाक्यत्वरूप साधन है, पर स्मर्यमाण-कर्तृकत्व नहीं है। अथवा 'जन्यज्ञानजन्यता' या 'प्रमाणान्तरेणार्थज्ञानमुपलभ्य विरचितत्व' रूप उपाधि से उक्त अनुमान को दूषित कहा जा सकता है। पौरुषेय वाक्यों में 'जन्यज्ञानजन्यता' या 'प्रमाणान्तरेणार्थज्ञानमुपलभ्य विरचितत्व' है ही। परन्तु वाक्यत्व वेदों में भी है, पर वहाँ न तो 'स्मर्यमाणकर्तृकत्व है, न 'जन्यज्ञानजन्यता' और न 'प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्व' ही। वेद का उच्चारण पूर्वोच्चारण-सापेक्ष होता है। अर्थात् शिष्य वेद का उच्चारण करने में स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि गुरु के उच्चारण की अपेक्षा रखता है। ईश्वर एवं मंत्र-द्रष्टाओं का उच्चारण 'सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय' से पूर्वकल्पीय

उच्चारण-सापेक्ष होता है। आद्योच्चारण 'निर्माण' कहलाता है, वही अपने पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा नहीं करता। वही 'जन्य-ज्ञानजन्य' भी होता है और वही 'प्रमाणान्तरेणार्थज्ञानमुपलभ्य विरचित' भी हुआ करता है। इस प्रकार वह उक्त उपाधि, जो साध्य का व्यापक एवं साधन का अव्यापक है, वेद के पौरुषेयत्व साधक अनुमान को दूषित कर देती है।

यदि बिना प्रमाण के वेदों का कर्ता मान लिया जाय, तब तो विना प्रमाण के सप्तम-रस की भी कल्पना कर ही लेनी होगी। साधारण ग्रन्थ या वाक्य ऐसे हो सकते हैं, जिनका कर्ता स्मर्यमाण न हो। किन्तु वेद जैसे प्रख्यात एवं सर्वमान्य ग्रंथ का यदि कोई कर्ता होता, तो अवश्य ही उसका स्मरण होता। इसके अतिरिक्त अनादि काल से वेदों का आचार्य-परम्परा से अध्ययनाध्यापन एवं तदर्थानुष्ठान प्रचलित है। अतः जिस ग्रन्थ की अविच्छिन्न संप्रदाय-परम्परा प्रचलित हो और जिसका कर्ता कोई स्मर्यमाण न हो, उस ग्रन्थ को अनादि एवं अपौरुषेय ही कहना युक्त है। संसार में कोई एक लेख भी लिखता है, तो उपाधियों सहित अपना नाम लेखक के रूप में लिखता है। किसी भी ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर ही लेखक का नाम अंकित रहता है। फिर कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हो और उसके कर्ता का उल्लेख न हो—यह हो ही नहीं सकता। वशिष्ठ, मनु, व्यास आदि वेदों का आदर करते हैं, वेदों को ईश्वर के तुल्य ही अनादि अपौरुषेय मानते हैं। ईश्वर ब्रह्मा का निर्माण करते हैं, परन्तु वेदों का निर्माण न करके नित्य-सिद्ध वेदों को ही ब्रह्मा के हृदय में प्रेषित करते हैं—"यो वै ब्रह्माणं विदधाति····।"

पूर्वमीमांसकों की दृष्टि से खण्डप्रलय ही होता है, महा-

प्रलय नहीं होता। अतः वेदों की गुरु-शिष्यपरम्परा कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। अतएव उनका अनुमान है कि वेद का सभी अध्ययन गुरु-परम्परापूर्वक ही होता है। जैसे वर्तमान-काल का वेदाध्ययन गुरुपरम्परापूर्वक ही होता है, वैसे ही वेदाध्ययनत्व होने से सभी वेदाध्ययन गुरुपरम्परापूर्वक ही समझने चाहिए यह अनुमान वाक्य इस प्रकार है —

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययन सामान्यादधुनाध्ययनं यथा॥"

उत्तर मीमांसकों के अनुसार यद्यपि महाप्रलय मान्य है, तथापि नित्य-सिद्ध ईश्वर में ही वेद अविच्छिन्न रूप से संनिहित रहते हैं। अतः सृष्टि के समय पूर्वकल्पीय वेदों की आनुपूर्वी को स्मरण करके ईश्वर उनका प्रादुर्भाव करते हैं। ईश्वरानुग्रह से ही ब्रह्मा के हृदय में वेदों का प्रकाश होता है। तपोबल से 'सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय' के अनुसार अन्य महर्षियों से भी वेदों का प्रकाश होता है। यह सुनिश्चित है कि वेदों का कोई भी उच्चारण आद्योच्चारण नहीं है। सभी उच्चारण पूर्वोच्चारण-सापेक्ष ही हैं।

यद्यपि अद्वैतमत में ईश्वर सबका कारण माना गया है, अतः सभी वस्तुएँ ईश्वर-ज्ञान से जन्य मानी गयी हैं। इस तरह भले ही वेद भी ईश्वरज्ञान से जनित हो, फिर भी जिस प्रकार लोक में वाक्य का निर्माण वाक्यार्थज्ञानपूर्वक होता है, उस प्रकार वैदिक-वाक्यों की उत्पत्ति नहीं है। बात यह है कि वेद पूर्वोच्चारण-सापेक्ष उच्चारणवाले हैं। इसीलिए वेदों को 'ईश्वर-निःश्वासरूप' कहा गया है। जैसे, निःश्वास पुरुष-बुद्धि

एवं प्रयत्न की अपेक्षा न करके ही आविर्भूत होते हैं, वैसे ही वेद भी से पुरुषबुद्धि एवं पुरुष-प्रयत्न से सर्वथा निरपेक्ष होने के कारण अकृत्रिम एवं अपौरुषेय हैं। जिस प्रकार कालिदास आदि से प्रणीत वाक्यों का उच्चारण हम लोगों की किञ्चित् बुद्धि एवं प्रयत्न की अपेक्षा रखता हुआ भी हम लोगों से उद्भूत नहीं है—हमलोग उसके निर्माता नहीं हैं, निर्माता कालिदास ही हैं, क्योंकि कालिदासादि का उच्चारण वाक्यार्थज्ञानजन्य है और अस्मदादिका उच्चारण किञ्चित् बुद्धिजन्य होने पर भी वाक्यार्थज्ञानजन्य नहीं है—किन्तु कालिदासादि के उच्चारण से सापेक्ष ही है। इसी प्रकार गुरु, शिष्य, प्रजापति या ईश्वर आदि के किंचित् बुद्धि-प्रयत्न द्वारा वेदों का उच्चारण या आनुपूर्वी-निर्माण होनेवाले पर भी वाक्यार्थज्ञानजन्य न होने से उनके द्वारा वेदों का निर्माण नहीं समझा जाता। कारण वेदों का कोई भी उच्चारण या आनुपूर्वी-निर्माण निरपेक्ष नहीं हैं, किन्तु पूर्वोच्चारण सापेक्ष ही है। इसी दृष्टि से वेद नित्य हैं।

नैयायिकों के मत में वर्ण, वाक्य आदि सभी अनित्य होते हैं, फिर भी प्रवाह रूप से वैदिक वर्ण, वाक्यादि अनादि एवं नित्य हैं। वेदान्तियों के मत से आकाशादि के तुल्य वर्ण, वाक्य आदि की उत्पत्ति होती है और प्रलयपर्यन्त उनकी स्थिति होती है। इस तरह प्रलयपर्यन्त स्थायी आकाश आदि की तरह वर्ण, वाक्य आदि की नित्यता है। इसी प्रकार प्रतिकल्प उनकी स्थिति भी समान रूप से होती है। इसलिए भी वेदों की नित्यता है। जैसे "ध्रुवा पृथिवी ध्रुवाः द्यौः" आदि स्थलों में पृथ्वी आदि की नित्यता कही गयी है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। यह भेद अवश्य है कि हम लोगों द्वारा प्रणीत वाक्यों के भी वर्ण नित्य ही होते हैं। यद्यपि नित्य एवं विभु वर्णों में स्वतः देश-कालकृत पौर्वा-

पर्यरूप आनुपूर्वी नहीं बन सकती, तथापि कण्ठ तालु आदि में होनेवाले अभिघात के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली ध्वनियाँ वर्णों की जो अभिव्यक्तियाँ पैदा करती हैं, वे सभी अनित्य मानी जाती हैं। उन्हीं अनित्य वर्णाभिव्यक्तियों में कालकृत पौर्वापर्य-रूप आनुपूर्वी बन सकती है। इसीसे पद, वाक्य आदि का निर्माण होता है। इस दृष्टि से आनुपूर्वीरूप पद, वाक्य आदि अनित्य ही होने चाहिए। तथापि जिन आनुपूर्वियों का प्रथम निर्माता कोई ज्ञात नहीं होता और जो अनादि-परम्परा से व्यवहार में प्रचलित हैं, ऐसे पद, वाक्य आदिकों को भी प्रवाह-रूप से नित्य ही माना जाता है। इसी अभिप्राय से "वाचा विरूपनित्यता" इत्यादि वेदवाक्यों से वैदिक वाक्यों की नित्यता कही जाती है। जिस प्रकार ज्ञातता-विशिष्ट ब्रह्म-स्वरूप मोक्ष ज्ञान के अनित्य होने से अनित्य ठहरता है, तथापि ज्ञातत्वोपलक्षित निरावरण ब्रह्मस्वरूप मोक्ष नित्य हो जाता है; उसी तरह पौर्वापर्य-विशिष्ट वर्णरूप, वैदिक पद-वाक्यादि भी अनित्य ठहरते हैं, तथापि पौर्वापर्यो-पलक्षित नित्यवर्णसमुदायरूप वैदिक पद एवं वाक्य आदि नित्य ही होते हैं। इसीलिए "वर्णा एव तु शब्दाः" अर्थात् वर्ण ही शब्द हैं—यह भगवान् उपवर्ष का उद्घोष है।

कहा जाता है कि वेद का स्वतःप्रामाण्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध हो जाय और वेदों की अपौरुषेयता तभी सिद्ध हो सकेगी, जब वर्णरूप शब्द नित्य हों। परंतु नैयायिकादि शब्दों की नित्यता का खण्डन करके उनकी अनित्यता ही सिद्ध करते हैं।

यदि शब्द अनित्य एवं जन्य हैं, तो शब्दसमूहात्मक वेदों

में भी अनित्यता और जन्यता सिद्ध हो जायगी। ऐसी स्थिति में पौरुषेयता और पुरुषाश्रित भ्रमो-प्रमादादि दूषणों से दूषित होने की शंका अवश्य ही वेदों में हो सकती है। तस्मात् वेदों का स्वतःप्रामाण्य मानना कथमपि सङ्गत नहीं। परन्तु इस विषय पर पूर्वमीमांसा में जैमिनि ने पूर्णरूप से विचार किया है। वहाँ उक्त विषय पर निम्नलिखित पूर्वोत्तर-पक्ष ग्रहणपूर्वक विचार किया गया है—"कर्मैके तद्दर्शनात्" (१ अ० १ पा०)। अर्थात् उच्चारणरूपी कर्म के अनन्तर शब्दों का श्रवण होता है, इसके पहले नहीं। जैसे कर्म से ही घट का उपलम्भ होता है, अतः वह अनित्य है, वैसे ही शब्द को भी अनित्य ही समझना चाहिए।

"अस्थानात्।"—फिर श्रवण के अनन्तर शब्द ठहरता नहीं। इससे भी उसकी अनित्यता ही जानी जाती है। "करोति शब्दान्।" —जैसे 'कुलाल घट का कर्ता है' ऐसा व्यवहार होता है। वैसे ही 'देवदत्त शब्द करता है' यह व्यवहार भी होता है।

"सत्वान्तरे यौगपद्यात्।"—जैसे लाघवात् शब्दों में नित्यता सिद्ध की जायगी, वैसे ही शब्द में एकता भी सिद्ध होगी। परन्तु अपकृष्ट-परिमाणवाली एक ही वस्तु समीप और दूरदेशवर्ती भिन्न-भिन्न पुरुषों को प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। शब्द तो उच्चारण के स्थान से समीप और दूरवर्ती पुरुषों को एक ही काल में उपलब्ध होता है। एक स्थान से किसी वस्तु के फेंकने पर समीप और दूर के पुरुषों को एक ही क्षण में आघात नही होना चाहिए। अतः शब्द अनित्य और अनेक हैं। इसी प्रकार "प्रकृतिविकृत्योश्च।" अर्थात कारण के अनुसार 'दधि+अत्र' ऐसी स्थिति में इकाररूप प्रकृति के स्थान में यकाररूप विकृति होती

है। इस भाँति विकार होने से उसमें अनित्यता अनिवार्य है। इसी तरह "वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य।"—अर्थात कर्ताओं के बहुत होने पर शब्दबाहुल्य भी देखा जाता है। जैसे कुम्हारों के बाहुल्य से घटों का बाहुल्य होता है, वैसे ही उच्चारण करनेवाले बहुत होने पर कोलाहलपूर्ण बड़ा शब्द होता है। यदि शब्द नित्य होता, तो उच्चारण उसका केवल व्यञ्जक ही माना जाता। ऐसी स्थिति में शब्द का बाहुल्य न बन सकता। अतः शब्द नित्य नहीं, अनित्य ही है।'

नैयायिकों की उक्त युक्तियों से शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है। परन्तु मीमांसक इनका परिहार करके शब्दों की नित्यता जिन युक्तियों के आधार पर सिद्ध करते है, वे निम्नलिखित हैं—

"समन्तु तत्र दर्शनम्।"—यदि किसी अन्य प्रमाण से शब्द की नित्यता सिद्ध होती हो, तो उच्चारण के अनन्तर शब्द का प्रत्यक्ष होना नित्य, अनित्य दोनों पक्षों में समान है। अनित्यत्व पक्ष में उच्चारण शब्द का कारण होता है, तो नित्यत्वपक्षमें उच्चारण व्यञ्जक या प्रकाशक होगा। जैसे कारण के अनन्तर ही कार्य के उपलम्भ का नियम है, वैसे ही व्यञ्जक के अनन्तर ही वस्तु की अभिव्यक्ति का नियम है। अतः उच्चारण के पश्चात् ही शब्द का प्रकाश होता है। इतने से ही शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं होती। उच्चारणके बाद अधिक क्षणोंतक स्थिर न रहना भी दोनों पक्षों में समानरूप से सङ्गत है। अतः "परमदर्शनं विषयावगमात्।" दोनों पक्षों में उक्त बातें समान होते हुए भी व्यङ्ग्य-पक्ष ही अधिक युक्त है, क्योंकि सदा विद्यमान नित्य शब्द का जो पूर्व और उत्तर काल में अदर्शन है, उसे उच्चारणरूप व्यञ्जक के साथ सम्बन्ध न होने के कारण ही समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि ककारादि वर्णों के सुनने के बाद श्रोताओं को 'यह वही ककार है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि उच्चारणों में भेद होने पर भी ककारादि वर्ण एक ही हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि ककारादि वर्णों को नित्य, व्यापक मानने में लाघव भी है। अतः उच्चारणों में भेद होने पर भी ककारादि वर्ण एक, नित्य और व्यापक ही हैं। अनित्य मानने में एक वर्ण भी अनन्त व्यक्ति और उनमेंप्रत्येक की उत्पत्ति, विनाश मानने में बड़ा गौरव होगा।

रही यह बात कि जब वर्ण नित्य हैं, तो उनको सदा उपलब्ध भी होना चाहिए। कभी उनका उपलब्ध होना और कभी न होना वर्ण-नित्यत्वपक्ष में कैसे बनेगा? इसका समाधान यही है कि यद्यपि शब्द नित्य ही है, तथापि शब्द के प्रत्यक्ष होने में एक स्तिमित (स्थिर) वायु प्रतिबन्धक है। उच्चारण में प्रेरित मुख-वायु के संयोग-विभाग से जबतक प्रतिबन्धकभूत उपस्थित वायु का अपसारण होता है, तभीतक शब्द का प्रत्यक्ष होता है। जब उच्चारणजन्य मुख-वायु के संयोग-विभाग नहीं होते या वे नष्ट हो जाते हैं, तब प्रतिबन्धकीभूत स्तिमित वायु का अपसारण नहीं होता। अतः वह शब्द भी सुनायी नहीं देता। जैसे अन्धकारस्थ घट का व्यञ्जक दीपक है, उसके रहने पर ही घट का प्रत्यक्ष होता है; वैसे ही उच्चारण भी सर्वदा स्थित शब्द का केवल व्यञ्जक है और उसके रहने पर ही शब्द का प्रत्यक्ष होता है।

उच्चारण के कर्ता को ही शब्द का कर्ता समझा जाता है। उच्चारण वही संयोग-विभाग है, अतः 'शब्द का कर्ता' होने से

तात्पर्य केवल 'शब्दप्रयोग के कर्ता' में है—"प्रयोगस्य परम् ।" जैसे एक ही सूर्य महान् होने के कारण एक ही समय में भिन्नदेशस्थ अनेक पुरुषों को दिखलाई देते हैं, वैसे ही व्यापक शब्द एक होते हुए भी, एक ही समय में भिन्नदेशस्थ अनेक पुरुषों को प्रत्यक्ष हो सकते हैं। इससे शब्द की भिन्नता और अनित्यता सिद्ध नहीं की जा सकती—"आदित्यवद्यौगपद्यम् ।"

वर्णों में दूध-दही के समान प्रकृति-विकृतिभाव भी नहीं बन सकता। इकार यकार दोनों पृथक् पृथक् वर्ण हैं। यदि इनमें प्रकृति-विकृतिभाव होता, तो जैसे दुग्ध के बिना दधि नहीं हो सकता, वैसे ही इकार के बिना यकार का उच्चारण न बनता। परन्तु 'यथा' आदि शब्दों में बिना इकार के भी यकार उच्चरित होता है, अतः दोनों ही स्वतन्त्र हैं।

विधायक सूत्रों का इतना हो तात्पर्य है कि 'सुधी + उपास्यः' ऐसे उच्चारण के प्रसंग से 'सुध्युपास्यः' ऐसा उच्चारण करना। बहुतों के बोलने से जो कोलाहल होता है, उसे भी शब्द की वृद्धि नहीं कही जा सकती। वृद्धि उस पदार्थ की हो सकती है, जिसमें अनेक अवयव हों। शब्द तो नैयायिकों के मत में भी गुण पदार्थ होने से निरवयव है। अतः निरवयव शब्द में वृद्धि कथमपि नहीं बन सकती। इसलिए यह मानना चाहिए कि किसी अन्य वृद्धि का ही वर्णों में आरोप होता है। इस भाँति पूर्वोक्त संयोग-विभाग की वृद्धि से ही शब्दों में वृद्धि का व्यवहार होता है।

ये ही संयोग-विभाग 'नाद' शब्द से भी व्यवहृत होते हैं। उन्हींकी बहुलता से शब्द में सावयवता और बहुलता प्रतीत होती है। अतः वृद्धिरूप हेतु से भी शब्द की अनित्यता नहीं कही जा सकती। शब्द नित्य होने पर ही दूसरों को बोध

कराने के लिए शब्दों का प्रयोग संगत होगा, अन्यथा दूसरों को बोध कराने के लिए शब्दों का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा, कारण अनित्य शब्द तो उच्चारण के अनन्तर ही नष्ट हो जायगा। वह श्रोता को अर्थबोध कराने तक रहेगा ही नहीं। फिर बिना वाक्यरूप कारण रहे वाक्यार्थबोधरूप कार्य कैसे उत्पन्न होगा? अतः यह मानना ही चाहिए कि अपना अर्थबोध कराने तक शब्द ठहरता है। उसके अनन्तर उसके नाश का कोई हेतु न होने से उसे नित्य मानना ही युक्तियुक्त है। सर्वत्र ही समानता रूप से 'यह वही गकार है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा होती है। सर्वत्र सदा सभीको ऐसी ही प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः इसे भ्रान्ति नहीं कह सकते। इसलिए भी शब्द नित्य ही है। अगर किसीने दश बार भी शब्द का उच्चारण किया, तो भी व्यवहार यही होता है कि एक गोशब्द का दश बार उच्चारण किया गया। ऐसा व्यवहार नहीं होता कि इसने दश गोशब्दों का उच्चारण किया। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उच्चारण में ही हेरफेर होता रहता है, शब्द स्वरूप से एक ही होता है। जैसे घटादि के नाश का कारण असमवायिकारणका नाश प्रसिद्ध है, वैसे ही शब्द के नाश का कारण लोक में निश्चित नहीं है। अतः शब्द नित्य ही है।

कई लोग कहते हैं कि 'वायु-परमाणुओं के संयोगों से शब्दों की उत्पत्ति होती है, "वायुरापद्यते शब्दताम्" इस शिक्षावचन के अनुसार तो यही विदित होता है, कि शब्द वायु का ही विकार है।' किन्तु यह कथन युक्त नहीं, कारण यदि शब्द वायु का विकार होता, तो उसका वायवीय त्वक्-इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता, श्रोत्र इन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष न होता। जैसे अन्यान्य वायुविकारों का श्रोत्र से प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही शब्द का भी श्रोत्र से

प्रत्यक्ष न होता। अतः शब्द वायु का विकार नहीं है। इसके अतिरिक्त 'वाचा निरूपनित्यया' इस मन्त्र से भी शब्द की नित्यता विदित होती है।

यहाँ फिर यह शंका होती है कि 'नित्य होने से भले ही वर्ण पौरुषेय न हों, वर्णों की आनुपूर्वी भी पौरुषेय न हों, कुम्भकारादि पदों में भी पदों की आनुपूर्वी चाहे पुरुषानपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र ही रहे; परन्तु वाक्यों में अन्वयबोधयोग्य पदों का समभिव्यवहार तो अवश्य ही पुरुषों की अपेक्षा रखता है। पुरुषाधीन होने से ही लौकिक वाक्य पौरुषेय कहलाते हैं। लौकिक वाक्यों में रहनेवाली वर्णों और पदों की आनुपूर्वी श्रोताओं के बोध का कारण है। यह आनुपूर्वी न बनायी जा सकती है, न बिगाड़ी ही जा सकती है। आनुपूर्वी के बिगड़ने पर उन शब्दों से श्रोताओं को अर्थबोध ही न हो सकेगा। फिर वह वाक्य ही निष्फल हो सकता है।

'ट घ' ऐसा प्रयोग करने पर घट का बोध नहीं हो सकता। 'कारः कुम्भ' ऐसा कहने पर कुम्भकार का बोध नहीं हो सकता, परन्तु लौकिक वाक्य तो सभीके मत में पौरुषेय ही समझे जाते हैं। इस पर विचारणा यह है कि लौकिक वाक्यों में कौन-सी वस्तु पौरुषेयता है? वर्ण तो पूर्वकथनानुसार अपौरुषेय ही हैं, वर्णों या पदों की आनुपूर्वी भी पूर्व के (घट, कुम्भकार) दृष्टान्त से अपौरुषेय (नित्य) ही है। पदों का समभिव्याहार ही अवशिष्ट रहता है, अतः उसे ही पौरुषेय (पुरुषाधीन, अनित्य) कहा जा सकता है। कारण वहाँ आनुपूर्वी बिगड़ने पर निरर्थकता नहीं होती—चाहे, 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का पुरुष) कहें, चाहे 'पुरुषो राज्ञः' (पुरुष राजा का है) से शब्दबोध दोनों ही तरह हो सकता है।

अतः यदि यह समभिव्याहार भी पौरुषेय न हों, तब तो लौकिक वाक्यों में इससे भिन्न कोई पौरुषेयता है ही नहीं। फिर तो लौकिक वाक्यों से भी पौरुषेयता उड़ जायगी। यदि लौकिक वाक्यों में समभिव्याहार की पौरुषेयता मान्य है, तब तो वही पौरुषेयता वेदों में भी आ सकती है। क्योंकि वह लौकिक, वैदिक दोनों ही तरह के वाक्यों में श्रोता का शाब्दबोध कराता है। अतः जैसे समभिव्याहार की पौरुषेयता से लौकिक वाक्यों में पौरुषेयता आती है, वैसेही वैदिक वाक्यों की भी पौरुषेयता अवश्य होगी। सहोच्चारण ही समभिव्याहार है। बिना पदों के सहोच्चारण के कोई भी वाक्य सिद्ध नहीं होता। साथ ही वेदों द्वारा भी वेदों की पौरुषेयता सिद्ध होती है। 'प्रजापतिर्वेदानसृजत'—प्रजापति ने वेदों का सर्जन किया। "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे", "यज्ञो वै विष्णुः" —विष्णु से सामादि वेदों की उत्पत्ति हुई। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुआ— "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयोवेदा अजायन्तअग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात् सामवेदः" [श० का० ११ अ० ५]। पुराणों में भी बहुधा ब्रह्मा को वेदों का कर्ता कहा गया है। इन सबसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि वेद विष्णु से, प्रजापति से, अग्नि से और अन्यान्य स्रोतों से उत्पन्न होते हैं। स्मृति, पुराण आदि से भी यही बात मालूम पड़ती है।'

पर उक्त कथन भी विचार-शाण पर खरा नहीं उतरता। कारण यह है कि किसी ग्रन्थ या वाक्य का प्रथमोच्चारयिता ही कर्ता माना जाता है। जैसे भारत आदि का प्रथम उच्चारण करनेवाले कृष्ण द्वैपायन व्यास हैं। समभिव्याहार में केवल उच्चारण की अपेक्षा होती है, प्राथम्य की अपेक्षा नहीं

होती। अतएव द्वितीय, तृतीय उच्चारण में भी वाक्यत्व रहता ही है। कार्य से कारण का अनुमान होता है। समभिव्याहाररूप कार्य से उसके कारण उच्चारण का अनुमान ही हो सकता है, क्योंकि प्राथम्य अप्रयोजक है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि द्वितीयादि उच्चारण प्रथमोच्चारण की अपेक्षा नहीं रखते। क्योंकि यह कहा जा चुका है कि शिष्य आदि का परवर्ती उच्चारण गुरु के पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा रखते ही हैं। अर्थात् हरएक उच्चारण अपने पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेक्षा रखता है, मुख्य प्राथम्य की अपेक्षा नहीं रखता। गुरुका उच्चारण शिष्य के उच्चारण की अपेक्षा नहीं रखता। गुरु का उच्चारण शिष्य के उच्चारण से प्रथम होने पर भी अपने गुरु के उच्चारण की अपेक्षा वह भी द्वितीयादि है ही। अतः यही कहा जा सकता है कि जो उच्चारण जिस उच्चारण का कारण होता है, वह उसकी अपेक्षा पूर्व होता है। अतः समभिव्याहार से उसके कारणभूत उच्चारण का और उस उच्चारण से उसके कारणभूत पूर्व-उच्चारण का अनुमान हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक उच्चारण से उसके पूर्व-पूर्व उच्चारण का अनुमान होता है। सारांश यह कि उक्त प्रक्रिया के अनुसार उच्चारण-धारा अनादि है। अतः समभिव्याहाररूपी वाक्य के कारण उच्चारण-कर्ता गुरु-शिष्यों की अनादि-परम्परा प्रचलित है। उनका प्रथम-प्रथम उच्चारण करनेवाला कर्ता कोई भी सिद्ध नहीं होता। यद्यपि भारत आदि ग्रन्थों की भी यही अनादि परंपरा प्राप्त होती है, तथापि उनके निर्माता व्यास आदि की प्रसिद्धि से यह परम्परा व्यास आदि तक जाकर रुक जाती है। वेदों में उच्चारण-परम्परा की निवृत्ति का कोई साधन नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि वेद की उच्चारण-परम्परा अनादि है।

जैसे मनु आदि ने जिस समय मन्वादि-धर्मशास्त्रों की रचना की, उस समय के पुरुषों ने उनको रचना करते देखा और उन लोगों ने अन्य पुरुषों से कहा। फिर उन लोगों ने भी दूसरों से कहा। इस प्रकार मनु आदि कर्ताओं की स्मरण-परम्परा आजतक प्रचलित है। ऐसे ही यदि वेद का कोई कर्ता होता, तो इसी क्रम से उसके स्मरण की भी परम्परा होनी चाहिए थी। जब एकदेशी ग्रंथों की यह स्थिति है, तो मनु, व्यास आदि के द्वारा अत्यन्त समादृत सर्वविद्याओं के मूल वेदों का रचयिता यदि कोई होता, तो अवश्य ही किसीने देखा होता और उसने दूसरों से कहा होता। उन लोगों ने भी अन्यों को सूचना दी होती और वेद-कर्ता की स्मृतिपरम्परा अबतक प्रचलित होती। छोटे-छोटे ग्रंथों की रचना करनेवाले भी रचयिता के रूप में अपना नामोल्लेख करते हैं। कई-कई तो अपनी प्रख्याति एवं नाम चलाने के लिए ही ग्रंथ लिखते हैं। फिर वेद जैसे महान् एवं गम्भीर ग्रंथों का यदि कोई रचयिता होता, तो अवश्य ही अपना नाम भी सूचित करता। अन्य किन्हीं ग्रन्थों में कर्ता के होने, न होने का विवाद भी नहीं है। अतः वेद के कर्ता के संबंध में सभी अनुमान अटकलमात्र हैं।

"प्रजापतिर्वेदासृजत्" इत्यादि स्थलों में 'सृज' धातु का 'उच्चारण' ही अर्थ है, निर्माण नहीं। तभी "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।" इस मन्त्र की

"तस्मैतं, ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इस मन्त्रवाक्य के साथ संगति बैठेगी। इस मन्त्र का यही अर्थ है कि जो ईश्वर ब्रह्मा का निर्माण करता और उसके हृदय में वेदों को पहुंचाता है, हम मोक्ष के लिए उसीकी शरण जाते हैं।

गौ आदि सिद्ध पदार्थ को ही ग्राम आदि में पहुँचाया जाता है। यदि प्रजापति वेद के कर्ता होते, तो इस प्रकार "ब्रह्माणं विदधाति", "वेदान् प्रहिणोति" यह प्रयोग नहीं हो सकता था। जब ब्रह्मा का निर्माता ईश्वर भी वेदों का निर्माता नहीं, तो ब्रह्मा या प्रजापति वेदों के निर्माता कैसे होंगे ? "सृजन्तमाजाविषुसंहतीवः" इत्यादि स्थलों में बाणों के प्रक्षेप अर्थ में ही 'सृज' धातु का प्रयोग हुआ है। उच्चारण का भी 'क्षेप' ही अर्थ है। "यश्च किरति क्रूरध्वनिं निष्ठुरः" इत्यादि स्थलों में उच्चारण को क्षेप ही कहा गया है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'हिनोति' का अर्थ है—प्रापण। यह अर्थ भी "प्रहिणु नयने" "इन्दुः प्रहितः" इत्यादि स्थलों में प्रसिद्ध है। प्रजापति ने ईश्वरप्रेरणा से पूर्वकल्पीय उच्चारण-सापेक्ष उच्चारण-कर वेदों का संप्रदाय-प्रवर्तन किया, यही 'प्रजातिर्वेदानसृजत्' का अर्थ है। यदि यहाँ 'सृज' धातु का अर्थ निर्माण लिया जाय, तो परस्पर विरोध भी है। विष्णु प्रजापति, अग्नि, सूर्य, वायु आदि अनेक का स्रष्टृत्व श्रुत है। फिर किसे निर्माता माना जाय ? किन्तु यदि उच्चारण ही सृज का अर्थ हो, तब तो कोई विरोध न होगा। इसी प्रकार माता के उदर में संजात चैत्र का भी माता के पेट से निकलनेमात्र के अर्थ में "अद्य चैत्रो जातः" यह व्यवहार होता है! इस तरह 'अजायत' का अर्थ भी संगत हो जाता है। उच्चारण भी जन्य होता ही है। इसी तरह उक्त श्रुतियों में अनादिसिद्ध वेद के उच्चारणमात्र से जनि, सृजि आदि का प्रयोग संगत हो सकता है।

इसी तरह "अनन्तरन्तु वक्त्रेभ्यस्तस्य वेदाः विनिःसृताः" अर्थात् 'पश्चात् ब्रह्मा के मुखों से वेद निकले'--यहाँ विनिःसृता' का अर्थ उत्पत्ति नहीं, बल्कि 'उच्चारण' ही है। प्रस्तुत स्मृति या इसी प्रकारकी अन्य स्मृतियाँ भी उक्त श्रुतिमूलक ही हैं। अतः उनका

भी उच्चारणमात्र में ही तात्पर्य है। प्रथमोच्चारणरूप निर्माण के कथन में स्मृति का तात्पर्य नहीं है। "प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इस स्मृति में उच्चारण के भेद से ही प्रतिमन्वन्तरों में अन्य श्रुतियों का विधान बतलाकर कर्ताओं के भेद का विरोध-परिहार किया गया है। जैसे, देवदत्त द्वारा उच्चरित गोशब्द में भिन्नता का व्यवहार होता है, वैसे ही मन्वन्तरों में भिन्न उच्चारण करनेवालों के भेद से श्रुति में भी भिन्नता का व्यवहार होता है। वास्तव में जैसे गोशब्द एक ही है, वैसे ही श्रुति भी अभिन्न ही है।

कुछ लोगों को गीता के "वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्" इस वचन से भी भ्रान्ति होती है कि वेदान्तों के कर्ता भगवान् हैं। अतः परमात्मा वेद के कर्ता हैं, यह गीता से ही सिद्ध होता है। किन्तु उस वचन का अर्थ यह है कि भगवान् वेद के अन्त अर्थात् सम्प्रदाय-लोप या अप्रचार का कृत् (छेदन) करनेवाले हैं। 'कृती छेदने' धातु से निष्पन्न यह रूप है। अथवा महाप्रलय-समय वे वेद के सम्प्रदाय का लोप करनेवाले हैं। पालक होने से सृष्टिकाल में सम्प्रदाय-लोप को काटनेवाले हैं और संहारक होने से प्रलयकाल में सम्प्रदायलोप के कर्ता हैं। अथवा वेदान्त-विचारात्मक वेदान्तशास्त्र 'ब्रह्मसूत्र' के व्यास के रूपमें प्रणेता हैं। अथवा वेदान्तों के कर्ता होने का आशय 'वेदान्तों का सम्प्रदाय-प्रवर्तन करना है'। वेदान्तों—उपनिषदों का निर्माण तो किसीसे नहीं होता। यदि विधिभाग अपौरुषेय और उपनिषद् भाग पौरुषेय माना जाय, तो 'अर्ध-जरतीय' न्यायकी उपस्थिति होगी। "वाचा विरूपनित्यया' इस मंत्र से तो समस्त वेदलक्षण-वाक् की नित्यता सिद्ध होती है, जिससे पौरुषेयता पर होनेवाली समस्त शंकाओं का सहज में ही खण्डन हो जाता है।

भट्टपाद जैसे प्राचीन विद्वानों का तो यह कहना है कि यदि भारत आदि ग्रंथों के कृष्ण द्वैपायन प्रभृति कर्ता प्रसिद्ध न होते, तो वेद के समान वे भी अपौरुषेय ही होते। किन्तु जब उनके कर्ताओं की प्रसिद्धि है, तो पौरुषेयता सिद्ध होने से अपौरुषेयता निरस्त हो जाती है।

पुराणों में वेद के कर्ता की जो चर्चा आती है, वह "प्रजापतिर्वेदान् सृजति" इस अर्थवाद के ही आधार पर ही है। जब अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता, तो उनके आधार पर बनायी हुई स्मृति या पुराण के आधार पर वेदों की पौरुषेयता कैसे सिद्ध हो सकती है?

यदि वास्तव में वेद का कोई कर्ता होता, तो तात्कालिक पुरुषों को अवश्य ही उसका प्रत्यक्ष होता। वे औरों से और वे औरों से कहते। इस रीति से अध्येताओं और अध्यापकों की परम्पराओं में अवश्य ही उसकी प्रसिद्धि होती। किन्तु वह प्रसिद्धि है नहीं। अतः यही कहना पड़ता है कि पुराणों ने अर्थवादों को ही देखकर वेदों का कर्ता बतलाया है। परन्तु जब उसका मूल अर्थवाद ही स्वार्थ में प्रमाण नहीं, किसी विधि का स्तावक मात्र है, तब उससे वे पुराणवचन वेदकर्ता को कैसे सिद्ध कर सकते हैं?

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'कर्तृस्मृति का मूलान्तर कल्पित करके उसका सम्यक्त्व ही क्यों न माना जाय?' किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं। जब परम्परा से वेद-कर्ता का स्मरण नहीं है, तब वह अनुभवमूलक नहीं कहा जा सकता, उसका अर्थवादमूलक होना ही उचित है। यद्यपि अर्थवाद भी अन्यपरक होने से कर्तृ-स्मृति के मूल नहीं हो सकते, तथापि

अन्यपरक वाक्यों से भी भ्रान्ति हो सकती है। अतः सर्वथा अमूल कहने की अपेक्षा भ्रान्तिमूल कहना ही उचित है। यही बात भट्टपाद ने कही है—

"भारतेऽपि भवेदेवं कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते।
वेदेऽपि तत्स्मृतिर्या तु साऽर्थवादनिबन्धना॥
पारम्पर्येण कर्तारं नाध्येतारः स्मरन्ति हि।
तेषामनेवमात्मत्वात् भ्रान्तिः सेति च वक्ष्यते॥
तेषु च क्रियमाणेषु न मूलान्तरकल्पना।
तथा ह्यद्यतनस्यापि ते कुर्वन्तीदृशीं मतिम्॥"

कुछ लोगों का कहना है कि 'वेदों के अनेक कर्ताओं का जो श्रवण है, उसमें कोई भी विरोध नहीं। जैसे राम, कृष्ण आदि परमेश्वर के अवतार हैं, वैसे ही सूर्य, अग्नि, वायु, यज्ञ प्रजापति आदि सभी परमेश्वर के ही अवतार हैं। इस तरह अनेक रूपोंसे परमेश्वर ही वेदों के निर्माता हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न परमेश्वर के ही नामों से भिन्न-भिन्न शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। अथवा कठ आदि भिन्न-भिन्न जीवों ने वेदों को बनाकर अपने-अपने नाम से भिन्न-भिन्न शाखाओं को प्रसिद्ध किया है।' दोनों ही पक्षों में वेद की अपौरुषेयता मिट जाती है। भगवान् जैमिनि ने 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' इस सूत्र से इन्हीं पक्षों का उत्थापन किया है। भावार्थ यह है कि कुछ लोग वेदों को रचित मानते हैं, क्योंकि काठक, कौथुम आदि शाखाएँ कठ आदि पुरुषों के नामों से सम्बद्ध पायी जाती हैं। अतः काठक आदि समाख्या से ही वेदकर्ताओं का निर्णय हो जाता है।

इन्हीं आचार्यों ने इस विषय का समाधान यों किया है कि

जिस वस्तु की सामान्य रूप से प्राप्ति होती है, समाख्या से उसी-के विशेषांश का निर्णय हुआ करता है। जैसे दक्षिणा द्वारा ऋत्विजों का वरण कर लेने पर उन्हें यज्ञ के हरएक कार्यों में नियुक्त किया जा सकता है। अतः आध्वर्यव, औद्गात्र, हौत्र आदि समाख्याओं से नियमन किया जाता है। यजुर्वेद के जिन कर्मों का 'आध्वर्यव' नाम है, उनका कर्ता उसी नाम के अनुसार 'अध्वर्यु' ऋत्विज यजुर्वेदी ही नियत होता है। जिन ऋग्वेदीय कर्मों का हौत्र नाम है, उनको ऋग्वेदी होता करता है। इसी तरह यदि वेदों का कर्ता सामान्य रूप से सिद्ध होता, तो काठक, कौथुम आदि समाख्याओं द्वारा विशेषरूप कठ आदि कर्ता सिद्ध किया जा सकता। किन्तु जब सामान्य रूप से भी वेदों का कर्ता सिद्ध नहीं है, तब फिर काठकादि द्वारा विशेष कर्ताओं की सिद्धि कैसे हो सकती है? रही काठक आदि समाख्याओं की बात। सो तो प्रवचन संबन्ध से भी उपपन्न हो सकती है। अर्थात् कठ आदि ने विशेष रूप से जिनका प्रवचन किया, वे ही शाखाएँ काठक आदि हैं।

जो यह कहा जाता है कि 'वाक्यमात्र किसी न किसी पुरुष के बनाये होते हैं, तो वेदवाक्य भी किसीके बनाये होंगे' इस अनुमान से सामान्य रूप से वेदों का कर्ता सिद्ध ही है, काठकादि समाख्या से विशेष रूप में भी उसका निर्णय हो जायगा।' इसका भी उत्तर यह है कि वेदों का कर्ता परम्परा से प्रसिद्ध नहीं है। इस कारण उक्त अनुमान अस्मर्यमाणकर्तृकत्वरूप उपाधि से दूषित ही है। अतः उससे कर्तृसामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

कहा जा सकता है कि 'कर्ता की प्रसिद्धि न होने से कर्तृ-सामान्य का जो निषेध किया जाता है, वह भी बिना प्राप्ति के

बन नहीं सकता। कारण शृंग आदि अप्राप्त पदार्थों का निषेध या बाध नहीं किया जाता। अतः अपौरुषेयता का समर्थन करनेवाले वेदों की पौरुषेयता का जो निराकरण करते हैं, उसीसे पौरुषेयता की प्राप्ति सिद्ध हो जाती है। इसके सिवा यह भी कहा जा सकता है कि काठकादि समाख्या से ही सिद्ध होता है कि वेदों के कर्ता और अध्येताओं की परम्परा में अवश्य प्रसिद्ध है। अतः कर्ता की अप्रसिद्धि नहीं कही जा सकती। इसलिए वाक्य होने से तो वेदों का सामान्य रूप से कर्ता सिद्ध होता ही है, काठकादि समाख्या से विशेषतः उसकी सिद्धि हो सकती है।'

किन्तु विचार करने पर उक्त तर्क भी निस्सार जान पड़ता है, क्योंकि प्रसिद्धि प्रवचन या पढ़ने-पढ़ाने के अधिक अभ्यास से भी हो सकती है। अर्थात् कठ ने जिस शाखा का विशेष रूप से अध्ययन-अध्यापन किया, उस शाखा को 'काठक' कहा जाता सकता है। अतः समाख्या के आधार पर वेद के कर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी तरह प्राप्तिपूर्वक ही निषेध होता है, किन्तु वह प्राप्ति प्रामाणिक होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं। क्यों-कि प्रामाणिक प्राप्ति का अत्यन्त निषेध हो ही नहीं सकता। काठकादि समाख्या का मूल प्रवचन आदि नहीं है। अतः उसके आधार पर कर्ता की प्रसिद्धि नहीं कही जा सकती।

यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'जब गुरुपर-म्परा अनादिकाल से प्रचलित है, तो सहस्रों व्यक्तियों ने एक शाखा का प्रवचन आदि किया ही होगा। फिर कठ के प्रवचन मात्र से काठकादि समाख्या की उपपत्ति कैसे हो सकती है? जब अनेक प्रवक्ता थे, तो उनके नामों से समाख्या क्यों नहीं हुई? इसलिए कठ द्वारा रचित होने से ही काठक समाख्या ठीक प्रतीत होती है।'

किन्तु उक्त तर्क भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रवचन के उत्कर्ष को लेकर काठक समाख्या बन सकती है। कठ ने विशिष्ट रूप से प्रवचनादि किया, इसलिए उस शाखा का नाम 'काठक' हुआ। इसीलिए "उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्" (जै० सू०), "आख्या प्रवचनात्" (जै० सू०) इन सूत्रों से कहा गया है कि पूर्व ही शब्द की नित्यता युक्तियों से सिद्ध कर दी गयी है। "तथा वाचा विरूपनित्यया" इस श्रुति से भी वेदवाक्यों की नित्यता सिद्ध है। अतः वेद नित्य हैं। काठकादि समाख्या तो प्रवचन से ही बनी है, रचना से नहीं। यद्यपि महाभारत आदि वाक्य भी शब्द हैं, तो भी वहाँ कर्ता आदि की प्रसिद्धि है; अतः वहाँ पर पौरुषेयता है। वेदों में कर्ता की प्रसिद्धि नहीं है, अतः वेद अपौरुषेय हैं। वाक्य-समभिव्याहार यद्यपि कर्तृ-सापेक्ष होता है, तथापि वहाँ स्वतन्त्र कर्ता की अपेक्षा नहीं होती। प्रथम उच्चारण करनेवाला 'स्वतंत्र कर्ता' कहलाता है। जब वेद अनादि हैं, तो उनका कोई भी प्रथम उच्चारण करनेवाला नहीं है। हरएक शिष्य अपने गुरुओं के उच्चारण के अनुकूल ही उच्चारण करता है। अतः उच्चारण के कर्ता होने पर प्रथमोच्चारयितारूप वेदवाक्यों का मुख्य कर्ता कोई भी नहीं। जब वेदों का कर्ता सामान्य रूप से अप्रसिद्ध है, तो फिर काठकादि समाख्या द्वारा भी कर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती। समाख्या विशिष्ट प्रवचनमात्र से उत्पन्न हो ही जाती है।

कहा जाता है कि 'जैसे कुमारी का गर्भ ही पुरुषसंयोग में स्वतन्त्र प्रमाण होता है, वैसे ही समाख्या रूप काठकादि शब्द ही शाखाओं के पौरुषेय होने में स्वतःप्रमाण है।' किन्तु उक्त तर्क भी ठीक नहीं। कारण जैसे 'कृते ग्रन्थे' इस अधिकार में 'कठेन कृतं काठकम्' शब्द बन सकता है, वैसे ही 'तेन प्रोक्तम्'